

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 8 अंक 3

जनवरी-मार्च 2011

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

सह-सम्पादक

शंकर शरण

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. बोर्नियो द्वीप से प्राप्त महाराज मूलवर्मन के चार संस्कृत शिलालेख आचार्य रघुवीर	9
2. आक्रामक अंग्रेज और उनका समाज तथा सभ्यता धर्मपाल	20
3. पर्यटन पवन कुमार गुप्त	28
4. 'जागरी' : बंग साहित्य की एक अनुपम देन देव नारायण पासवान 'देव'	31
5. किस प्रकार विलुप्त होती हैं संस्कृतियाँ महीप सिंह	39
6. सीता की अग्नि-परीक्षा : एक विश्लेषण रमानाथ त्रिपाठी	43
7. नारी शंकर पुणतांबेकर	46
8. पत्रकारिता में नैतिकता के पुरोधपोद्धार जी ब्रजलाल उनियाल	53
9. समीक्षा-लेख अगाध अज्ञेय का सम्पादक रूप शंकर शरण	56

10. जातीय अस्मिता और अज्ञेय का निबन्ध-साहित्य <i>सदानन्दप्रसाद गुप्त</i>	64
11. सुनीता जैन के साहित्यकार की कद-काठी <i>पुष्पपाल सिंह</i>	79
12. राष्ट्रीयता का अभाव <i>धर्मदेव तिवारी 'शास्त्री'</i>	93
13. पश्च देवस्य काव्यम <i>शोभाकान्त झा</i>	101
14. देवनागरी लिपि एवं भारत की भाषाएँ <i>डॉ. ब्रज विहारी कुमार</i>	108
15. गुरु गोविन्द गिरी का भगत आन्दोलन व राजनीतिक जनजागरण <i>सुशीला शक्तावत</i>	114
पाठकीय प्रतिक्रिया	120
आस्था भारती समाचार	125

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

आतंकवाद का शंकट : अवधारणा-व्यवस्था की समस्या

नागा समस्या आजादी के बाद की देश की सबसे पहली समस्याओं में रही है। लगभग उसी समय, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने आजादी को झूठी करार देते हुए 'रणदिवे सिद्धान्त' (Ranadive doctrine) के तहत हिंसा द्वारा दिल्ली की सत्ता हथियाने की पहल की थी। आजादी के ठीक बाद, तेलंगाना में व्यापक हिंसा एवं देश के अन्य भागों में छिट-पुट हिंसा की वारदातें भी हुई थीं, जिसे शीघ्र ही दबा दिया गया था। वस्तुतः रणदिवे की अगुवाई में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने वही करना चाहा था, जो रूस में लेनिन के नेतृत्व में बोल्सेविकों ने किया था। रूस में वे सफल रहे; भारत में विफल। बाद में कम्युनिस्टों ने आधे मन से चुनाव में भाग लेना शुरू किया; आन्तरिक वैचारिक फूट बनी रही। पार्टी टूटी, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) बनी। उस पार्टी ने भी चुनाव लड़े; पार्टी सत्ता में सहभागी बनी। लेकिन पार्टी का एक वर्ग लेनिन एवं माओ को, उनके हिंसा द्वारा सत्ता-प्राप्ति के पाठ को भूला नहीं था। परिणति नक्सलवाद के जन्ममें हुई। वैसे भारत की कम्युनिस्ट पार्टी एवं कम्युनिस्ट विचार-धारा का भारत में अलगाववाद एवं देश के विखण्डन की समस्या से चोली-दामन का सम्बन्ध रहा है। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने पाकिस्तान बनाने के प्रस्ताव का ही नहीं, सोलह राष्ट्रीयताओं की बात भी की थी। मणिपुर में सर्वप्रथम मैतेई अलगाव की बात करनेवाला इरावत सिंह कम्युनिस्ट था। असम का संयुक्त मुक्ति मोर्चा (ULFA; United Liberation Front of Assam) एवं नागा अलगाववादी संगठन, इसाक-मुइवा एवं खाप्लांग के एन.एस.सी.एन (NSCN; National Socialist Council of Nagalim) खेमे जिस "वैज्ञानिक समाजवाद" की बात करते हैं, वह कम्युनिस्ट विचार-धारा ही है, "गणतांत्रिक समाजवाद" की नहीं। फिर नक्सलवादी अपने प्रस्तावों/वक्तव्यों द्वारा पूर्वोत्तर एवं कश्मीर के अलगाववादियों को लगातार समर्थन देते रहे हैं। नागा समस्या की जड़ में अंग्रेजों द्वारा स्थापित जातियों के अलगाव की नस्लवादी सोच एवं अन्य मिथकों के अतिरिक्त फिजो की नागा राष्ट्र एवं नागा स्वतंत्रता की मिथकीय अवधारणा एवं उनकी ईसाई राज्य बनाने की परिकल्पना रही है।

1970 के दशक में जब केन्द्र में इन्दिरा गांधी एवं पश्चिम बंगाल में सिद्धार्थ शंकर राय की सरकार थी, तब पश्चिम बंगाल में नक्सलियों का अस्तित्व नहीं रहा।

दूसरे राज्यों में भी छिटपुट ही उनका अस्तित्व बचा रहा। 1975 में शिलौंग समझौते के बाद यही स्थिति नागा-विद्रोहियों की भी हुई। फिजो के संगठन, नागा नेशनल काउन्सिल के नेताओं ने भारत से अलग होने की अपनी माँग छोड़ दी। फिर क्या हुआ? भारतके विभिन्न प्रान्तों में नक्सली एवं पूर्वोत्तर में नागा विद्रोहियों का एक अत्यन्त छोटा सा वर्ग शक्ति संचय करता गया; धीरे धीरे उनका बल एवं प्रभाव बढ़ा। पूर्वोत्तर में तो आतंकवादी-अलगाववादी संगठनों की बाढ़ सी आ गयी, जिनमें कई संगठनों के गठन एवं सशक्तिकरण में NSCN की प्रबल भूमिका रही। प्रश्न उठता है कि आखिर यह कैसे संभव हुआ? वस्तुतः इसके कई कारण रहे हैं। सबसे बड़ा कारण तो समस्याओं की समझ की कमी एवं उनके समाधान की ईमानदार पहल का अभाव रहा है। हमने पूरी ईमानदारी से न तो नक्सलवाद के खिलाफ और न तो पूर्वोत्तर के अलगाववादियों से, और न जेहादी तत्त्वों से संघर्ष किया। इस संघर्ष में हमारा सबसे दुर्बल पक्ष बौद्धिक मोर्चे की कमजोरी रही है।

नक्सलियों ने कभी इस बात को छिपाया नहीं कि उनकी लड़ाई हिंसक तरीके से सत्ता प्राप्ति के लिए है। हमारे बुद्धिजीवी एवं पत्रकार उसे विकास की कमी से जोड़ते रहे हैं। एक तरफ तो प्रधानमंत्री, डा. मनमोहन सिंह नक्सलवाद को देश की सबसे बड़ी समस्या करार देते रहे हैं; दूसरी तरफ उन्हीं के पूर्व गृहमंत्री पाटिल दूसरी भाषा बोलते रहे। वे भूल गये कि नक्सलवादी आतंकवाद तथा विकास एवं सुशासन की कमी की बात साथ साथ की जाने पर बहुत बड़ा विभ्रम पैदा होता है। तब लगता है कि नक्सली संघर्ष विकास, सुशासन एवं सामाजिक न्याय के लिए है जो वस्तुतः सही नहीं है। वस्तुस्थिति तो यह है कि आज नक्सली ही विकास एवं सुशासन के मार्ग में सबसे बड़े बाधक हैं।

नागा राष्ट्रीयता एवं उनकी स्वतंत्रता की बात हम पिछले सात दसकों से लगातार सुनते आ रहे हैं। वस्तुतः न कभी नागा राष्ट्र रहा है, और न उनकी भारत से अलग राजनीतिक सत्ता ही रही है। सबसे पहले जब उन्होंने साइमन कमीशन के सामने अपने अलगाव की बात की तो उनके नेता, आज जिन्हें वे नागा कहते हैं, उन सभी जनजातियों के नाम तक नहीं जानते थे। फिर नागा अपने अपने गाँवों में सिमट कर रहते थे एवं उनके गाँव अहोम एवं मणिपुरी राजाओं एवं सिङ्फो सरदारों से प्रशासित तो होते ही थे। इस तरह नागा राष्ट्र एवं अंग्रेजों के आने के पहले की उनकी भारत से अलग स्वतंत्र रहने की बात तथ्य से परे है। लेकिन हमने कभी भी प्रभावी ढंग से उनके गलत दावों, उनके प्रचार का प्रतिकार नहीं किया। वस्तुतः वैचारिक स्तर पर नागा-विद्रोहियों, असम के उल्फा या पूर्वोत्तर के अन्य आतंकी संगठनों, नक्सलियों, जेहादियों, एवं कश्मीर के साम्प्रदायिक अतिवादियों का हमने कभी मुकाबला नहीं

किया, जिसकी आवश्यकता थी। होना यह चाहिए था कि बन्दूक को बन्दूक से तथा गलत प्रचार को सही बात कहकर निष्प्रभावी बनायाजाता। इसके बिना, शान्ति-वार्ताओं का चिरस्थायी सुखद परिणाम संभव नहीं। पूर्वोत्तर में NSCN एवं ULFA से शान्ति-वार्ता चल रही है। कुछ और आतंकी संगठनों के शान्ति वार्ता में शामिल होने के आसार हैं। चेष्टायह होनी चाहिए कि शान्ति-वार्ता में उन संगठनों के सभी धड़ों का साथ लिया जाय और अवधारणा की व्यवस्था (perception management) द्वारा किसी संगठन के वार्ता-विरोधी धड़े को समाज में भ्रम फैलाने का अवसर नहीं दिया जाय। स्पष्टतः वैचारिक मोर्चे पर लड़े बिना अलगाववादी आतंकवादी संगठनों की गतिविधियों पर काबू पाना असंभव है।

बी.बी. कुमार

बोर्नियो द्वीप से प्राप्त महाराज मूलवर्मन के चार संस्कृत शिलालेख

आचार्य रघुवीर*

भारत का इतिहास पढ़नेवालों और विशेषतः पढ़ानेवालों का यह दुर्भाग्य है कि भारत की इतिहास पुस्तक में भी हमारे प्राचीन सखिदेशों का नामोल्लेख तक नहीं होता। न जाने हमारे विश्वविद्यालय कब तक हमको यह पाठ पढ़ाते रहेंगे कि पहले अलक्षेन्द्र का भारत पर आक्रमण हुआ, पुनः शकों और हूणों का पदारोपण हुआ; तत्पश्चात् अरब, अफगान, पठान, तुर्क और मुगलों का 800 वर्षों तक लगातार ताँता बँधा रहा। आज उनके उत्तराधिकारी भी विदेशी ही हमारे शासक और भाग्य-विधाता हैं। क्या भारत का अपना गौरव-काल कोई न था? क्या हमारा सुवर्ण समय कृतयुग और सत्ययुग सब इतिहास की सीमा से बाहर है? क्या इस देश के लोग कभी बाहर के देशों को नहीं गए और वहाँ जाकर उन्होंने अपनी सभ्यता का प्रचार करके बड़े-बड़े विस्तृत राज्य स्थापित नहीं किए? यदि किए तो कोई प्रमाण? आज हम इन्हीं प्रमाणों की लड़ी के एक मनके को पाठकों के सामने रखना चाहते हैं। इंग्लैंड देश की कोई छोटी-से-छोटी इतिहास पुस्तक भी सम्पूर्ण नहीं समझी जाती जब तक उसमें “विस्तृत इंग्लैंड” (Greater England) अर्थात् इंग्लैंड के साम्राज्य और उपनिवेशों का वर्णन न हो। पर इस कमी को भारत के इतिहास में देखने-सुननेवाला कोई नहीं।

अब हम प्रस्तुत विषय को लेते हैं।

सबसे प्रथम 3 जून, 1879 को श्री के.पी. होल ने ‘बटेविया (जावा द्वीप) विज्ञानकला परिषद्’ (Batavian Society of Arts and Sciences) के अधिवेशन में सूचना दी कि बोर्नियो द्वीप के पूर्वी प्रदेश में कोताई के राज्य में एक बड़ा भारी शिलालेख विद्यमान है। तदनुसार कोताई के स्थानिक असिस्टेंट रेसीडेण्ट से पत्र-व्यवहार किया गया, जिसके उत्तर में उसने लिखा कि मोरा कामन नामक स्थान में हिन्दू काल

*स्व. आचार्य रघुवीर महान चिन्तक विद्वान रहे हैं।

के कुछ स्मारक शेष हैं। तत्पश्चात् कोताई के सुल्तान¹ ने, सम्भवतः यूरोपीय अधिकारी के अनुरोध से, चार शिलालेखों को सन् 1880 में ही जकार्ता नगर के अद्भुतालय में भेज दिया। प्रोफेसर कर्ण ने उसी वर्ष उक्त शिलालेखों की प्रतिलिपि प्राप्त करके उनका अनुवाद किया। पर प्रोफेसर कर्ण की प्रतिलिपि में कई भूलें रह गई थीं, तथा अब इन उपनिवेशों के विषय में बहुत अधिक विस्तृत ज्ञान हो जाने से आवश्यकता पड़ी कि नई प्रतिलिपि लेकर पुनः अनुवाद तथा सम्पादन किया जाए। इस कार्य को डॉक्टर जे.पी.एच. फोगल ने बड़े परिश्रम और विद्वता से सन् 1918 में किया। उसी के आधार पर हमारा यह लेख है²।

मोरा कामन एक छोटा-सा ग्राम है, जो पूर्वीय बोर्नियो के कोताई राज्य में 'महाकाम' और 'कामन' नदियों के संगम पर बसा हुआ है। शिलालेख 1 में जो "पुण्यतमे क्षेत्रे वप्रकेश्वरे" तीर्थ का नाम आया है, वह सम्भवतः यही पुण्यतम तीर्थ 'वप्रकेश्वर' हो। इसके विषय में डॉक्टर फोगल, कर्ण, फिनो, बर्गेज आदि सब विद्वान चुप हैं। जहाँ तक हमको ज्ञात है, वप्रकेश्वर किस स्थान पर था, यह उन्होंने कभी विचारा ही नहीं। अस्तु, इसी "मोरा कामन" ग्राम में सोने की बनी हुई विष्णु की एक अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा तथा सोने का एक कच्छप³ प्राप्त हुआ था। इन दोनों को आजकल कोताई के सुलतान अपने गले में बड़े अभिमान से पहनते हैं⁴। किसी समय में यह भारतीय सभ्यता तथा हिन्दू धर्म का केन्द्र रहा होगा। अभी तक राज्य की ओर से यहाँ खुदाई का कार्य ठीक प्रकार से आरम्भ नहीं हुआ। न जाने अभी यहाँ से और क्या-क्या निकलने को है। कोताई राज्य में गेनेड् कोम्बेड् की गुहाओं में भी कई देवताओं की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। परन्तु अब तक उनका पूर्ण विवरण जानने के लिए कोई भारतीय परातत्त्ववेत्ता वहाँ नहीं पहुँचा, जो उनके चित्र लेता और सविस्तार खोज करता। श्री विटकैम्प के 10 मूर्तियों के संग्रह में से एक मूर्ति गणेश की है। मूर्ति में हाथी की सूँड़ है और चार हाथोंवाले गणेश जी सुखासन लगाए बैठे हैं। दूसरी मूर्ति नन्दी की है। "महाकाम" और "रत" नदी के संगम पर भी एक छोटा-सा नन्दी तथा शिवलिंग मिला है।

अब हम अपने शिलालेखों की ओर आते हैं। ये चारों शिलालेख महाराज मूलवर्मन् के हैं। इन लेखों को ब्राह्मणों ने मिले हुए दान के पुण्य की घोषणा करने के लिए खुदवाया था; इसलिए हम आशा नहीं कर सकते कि वंशावली के कुछ नामों के अतिरिक्त और ऐतिहासिक घटनाओं का इनमें उल्लेख हो। यह भी सम्भव था, यदि लेख बहुत लम्बे होते। वंशावली में मूलवर्मन् के पिता तथा पितामह का नाम और दो छोटे भाइयों का निर्देश मात्र है। पिता का नाम "अश्ववर्मन्" और पितामह का "कुंडुंग" है। "कुंडुंग" संस्कृत नाम नहीं; इसलिए विद्वानों का अनुमान है कि "कुंडुंग" के समय में ब्राह्मणों ने बोर्नियो में हिन्दू धर्म का प्रचार आरम्भ किया और या तो "कुंडुंग" को हिन्दू बनाया या "अश्ववर्मन्" को। "अश्ववर्मन्" को प्रथम शिलालेख में

"वंशकर्ता" कहा है। क्या इससे यह परिणाम नहीं निकल सकता कि धार्मिक रीति से पहला राज्याभिषेक "अश्ववर्मा" का हुआ और अतः वह वंशकर्ता कहलाया?

कोताई के शिलालेखों में अत्यन्त आश्चर्यजनक तथा रोचक "यूप" शब्द है। श्री फोगल तथा अन्य विद्वानों का अब तक यही विचार रहा है कि इन शिलालेखों में "यूप" शब्द "पशुबन्धनार्थ याज्ञिक स्तम्भ" के अर्थ का वाची है। उनके विचार को पुष्ट करनेवाले "यष्ट्वा" (शि.ले.1, पं. 10) और "यज्ञस्य" (शि.ले.1, पं. 11) पद हैं। जैसा कि हमने अपने भावार्थ की टिप्पणी में दर्शाया है, यहाँ "यष्ट्वा" का अर्थ "यज्ञ करके" नहीं, किन्तु "दान देकर" है। अपने इष्ट मत का पोषण करने के लिए उन्होंने "बहुसुवर्णक" को भी यज्ञविशेष की संज्ञा मानना चाहा है। हम इसको क्लिष्ट कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकते। यदि वास्तव में ये "यूप" कुछ यज्ञों के स्मारक और पशुबन्धन रूप स्तम्भ होते, तो इनका आकार भी अवश्यमेव तदनु रूप ही होना चाहिए था। श्री फोगल महोदय स्वयं मानते हैं कि "कोताई के यूपों के बाह्य आकार से यह स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकाण्ड के लकड़ी के बने यूप नहीं हैं। ये खुरदरे बेढंगे पत्थर के खण्ड हैं जो क्रमशः 1.87 मीटर (शि.ले. 1), 1.55 मीटर (शि.ले. 2), 1.69 मीटर (शि.ले. 3), तथा 1.21 मीटर (शि.ले. 4) ऊँचे हैं। इनकी चौड़ाई .27 से .38 मीटर तक है।" भारतवर्ष में प्राप्त ईशापुर के याज्ञिक यूप के साथ तुलना करते हुए आप कहते हैं "दोनों (कोताई और ईशापुर की शिलाओं) में किसी प्रकार का साम्य नहीं है।" पुनः "क्या फिर हम इससे यह परिणाम निकालने का साहस करें कि कोताई के शिलालेखों में वर्णित यज्ञों में वैदिक यज्ञों के सदृश यूपों का प्रयोग नहीं किया गया?" श्री फोगल के साथ हम सहमत हैं कि ऐसी निराधार प्रमाणशून्य कल्पना करना, और केवल इसलिए कि अपना इष्ट वाद खण्डित न हो, दुस्साहस ही है। फिर भी श्री फोगल का आग्रह है कि "कोताई के शिलालेखों में निश्चय याज्ञिक स्तम्भों का ही उल्लेख है।"

प्रथम प्रश्न यह हो सकता है कि यदि ये यज्ञ के पशुबन्धनस्तम्भ होते, तो इनका आकार कैसा होता? इस प्रश्न का उत्तर ईशापुर (मथुरा के सामनेवाले यमुना किनारे पर एक ग्राम) में दूसरी शताब्दी ईसवी के स्थापित दो याज्ञिक यूप देंगे। इनकी ऊँचाई 5 मीटर है। यूपों का मध्य भाग अष्टकोण है और कोने ऊपरी भाग से मुड़े हुए हैं। यूपों के ऊपर प्रसिद्ध गोल चक्र "चषाल" है। याज्ञिक नियमों के अनुसार दोनों यूपों में "रसेना" भी चारों ओर बँधी है। इनमें से एक के ऊपर पुष्पमाला टँगी है। यह सम्भवतः वह माला है जो घोड़े को पहनाई जाती थी। इस विशेषता के उल्लेख का यह भाव नहीं कि प्रत्येक "याज्ञिक यूप" इसी रूप का होना चाहिए; किन्तु यह कि कुछ-न-कुछ इसी प्रकार का याज्ञिक प्रक्रिया सम्मत रूप और आकार होना आवश्यक है। परन्तु कोताई की शिलाओं का तो कोई विशेष आकार या रूप है ही

नहीं। इसलिए हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ये “यूप” याज्ञिक “यूप” नहीं हैं।

और भी प्रमाण लीजिए। शिलालेख 1 के “तस्य यज्ञस्य यूपोऽयम्” वाक्य के सदृश वाक्य “तस्य पुण्यस्य यूपोऽयम्” तथा “तेषां पुण्यगणानां यूपोऽयम्” क्रमशः शि. ले. 2 और 3 में आते हैं। शि.ले. 2 और 3 में किसी क्लिष्ट कल्पना के आधार पर यदि “पुण्यस्य” तथा “पुण्यगणानां” शब्दों का अर्थ “यज्ञस्य” या “यज्ञगणानां” नहीं किया जा सकता, तो इन दोनों शब्दों के साथ आनेवाले “यूप” शब्द का “याज्ञिक स्तम्भ” अर्थ करने से श्री फोगल आदि क्या प्रयोजन सिद्ध कर सकते हैं? मोनियर विलियम्स ने “यूप” शब्द के अर्थ में एक अर्थ ‘जयस्तम्भ’ भी दिया है। और हम भी इन शिलालेखों में “यूप” का केवल युक्तियुक्त अर्थ “कीर्तिस्तम्भ” ही करते हैं। यह अर्थ शिलालेख 2 और 3 में तो सर्वसम्मत होगा ही। रहा शि.ले. 1, सो उसमें “यज्ञस्य” शब्द दूसरे और तीसरे शिलालेख के “पुण्यस्य” का स्थानीय और पर्यायवाची है। “यष्ट्वा” का अर्थ “दत्त्वा” करने में किसी संस्कृतज्ञ को आपत्ति हो ही नहीं सकती।

अपरंच कोताई के शिलालेख सुवर्ण, गो, भूमि आदि के दान के स्मारक हैं, वैदिक यज्ञों के नहीं।

शिलालेख 1 में “वप्रकेश्वर” शब्द में “ईश्वर” शब्द से क्रॉम, कर्ण तथा फोगल आदि इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह “पुण्यतम क्षेत्र” ईश्वर अर्थात् शिव के उपासकों का धर्मस्थान अथवा तीर्थस्थान था और यह कि बोर्नियो द्वीप में शैव मत का विशेष प्रचार था।

इस आरम्भिक वक्तव्य के पश्चात् हम प्रत्येक लेख की प्रतिपंक्ति देवनागरी अक्षरों में मूल संस्कृत देकर उनका भाषान्तर उपस्थित करते हैं। पाठकों से प्रार्थना है कि वे ध्यान दें कि लेखों की लिपि प्राचीन दक्षिण भारत की लिपि है, और इनके भाव सर्वथा भारतीय हैं। जिस देश में ये लेख प्राप्त हुए हैं, वह देश भी किसी समय में भारत का सच्चा प्रतिरूप रहा होगा।

शिलालेख 1 (अनुष्टुप् छन्द)⁵

- पंक्ति 1. श्रीमतः श्रीनरेन्द्रस्य
2. कुण्डुङ्गस्य महात्मनः (।)
3. पुत्रोश्ववर्म्मो⁶ विख्यातः
4. वंश⁷ कर्त्ता यथांशुमान्⁸ (॥१॥)
5. तस्य पुत्रा महात्मानः
6. त्रयस्त्रय इवाग्नयः (।)

7. तेषान्त्रयाणाम्प्रवरः
8. तपोबलदमान्वितः (॥२॥)
9. श्रीमूलवर्म्मा राजेन्द्रो⁹
10. यष्ट्वा¹⁰ बहुसुवर्णकम् (।)
11. तस्य यज्ञ¹¹स्य यूपोयम्
12. द्विजेन्द्रैस्सम्प्रकल्पितः (॥३॥)

भावार्थ श्रीमान् नरेन्द्र कुण्डुङ्ग महात्मा का विख्यात पुत्र अश्ववर्म्मा था, जिसने अंशुमत्¹² के समान (एक नए राज) वंश की स्थापना की। तीनों अग्नियों के सदृश (तेजस्वी) उसके तीन महात्मा पुत्र थे। उन तीनों में (वय तथा गुणों में) श्रेष्ठ, तपोबल और दमयुक्त राजाओं के राजा श्री “मूलवर्म्मा” ने बहुसुवर्णक¹³ से यज्ञ किया। इस यज्ञ का यह यूप द्विजों में श्रेष्ठ अर्थात् ब्राह्मणों ने बनवाया।

शिलालेख 2 (अनुष्टुप् छन्द)

- पंक्ति 1. श्रीमतो नृपमुख्यस्य
2. राज्ञः श्रीमूलवर्मणः (।)
3. दानं पुण्यतमे क्षेत्रे
4. यद्दत्तम्वप्रकेश्वरे¹⁴ (॥१॥)
5. द्विजातिभ्योग्निकल्पेभ्यः
6. विंशतिर्गोसाहस्रिकम्¹⁵ (।)
7. तस्य पुण्यस्य यूपोयम्
8. कृतो विप्रैरिहागतैः (।) (॥२॥)

भावार्थ श्रीमान्, नृपों के मुख्य, राजा श्री मूलवर्म्मा ने¹⁶ पुण्यतम धर्मस्थान “वप्रकेश्वर” में अग्नि के सदृश (तेजस्वी) ब्राह्मणों को जो¹⁷ बीस सहस्र¹⁸ गौओं का दान दिया, उसके पुण्य का यह यूपकीर्तिस्तम्भ यहाँ आए हुए ब्राह्मणों ने (स्थापित) किया।

शिलालेख 2 (आर्या छन्द)

- पंक्ति 1. श्रीमद्विराजकीर्त्तः
2. राज्ञः श्रीमूलवर्मणः पुण्यम् (।)
3. शृण्वन्तु विप्रमुख्याः
4. ये चान्ये साधवः¹⁹ पुरुषाः (॥१॥)
5. बहुदानजीवदानम्
6. सकल्पवृक्षं सभूमिदानं च (।)

7. तेषां पुण्यगणानाम्

8. यूपोयं स्थापितो विप्रैः (॥२॥)

भावार्थ प्रधान ब्राह्मण लोग, तथा जो दूसरे साधु पुरुष हैं, वे श्रीमान्, उज्ज्वल कीर्तिवाले, राजा श्री मूलवर्मा के पुण्य को सुनें। (वे लोग सुनें उसके) बहुत अधिक दान को, जीवों के दान को,²⁰ सहित कल्पवृक्ष²¹ के और सहित भूमिदान के। उन (दोनों के) पुण्यगणों का यह यूप ब्राह्मणों ने स्थापित किया।

शिलालेख 4 (अनुष्टुप् छन्द)

- पंक्ति 1. सागरस्य यथा राज्ञः
2. समुत्पन्नो भगीरथः (।)
3.
4. मूलवर्म्म...

भावार्थ जैसे राजा सगर के भगीरथ उत्पन्न हुआ... मूलवर्म्म...

इस शिलालेख का शेष भाग इतना शीर्ण हो चुका है कि आज तक किसी विद्वान ने मिटे हुए अक्षरों को पढ़ने का यत्न नहीं किया। साधारणतया अनुमान किया जा सकता है कि इसमें भी 8 या 12 पंक्तियाँ रही होंगी। सम्भवतः इस शिलालेख में कुछ विशेष ऐतिहासिक विवरण मिलता।

श्रीमूलवर्मा के चारों लेखों की भाषा सुगम संस्कृत है। यद्यपि इनकी तुलना रुद्रदामन् की गिरनार प्रशस्ति, समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति अथवा चन्द्र की महरौली प्रशस्ति के साथ नहीं किया जा सकता, तथापि यह निर्विवाद है कि जावा, चम्पा, काम्बोज के समकालीनप्राय शिलालेखों में शिल्प तथा साहित्य की दृष्टि से ये चारों लेख अद्वितीय हैं।

शिलालेखों पर कोई तिथि न होने से निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि श्री मूलवर्मा किस शताब्दी तथा किस वर्ष में राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए और ब्राह्मणों ने कब इन कीर्तिस्तम्भों की स्थापना की। शिलालेखों की लिपि मात्र ही अब हमारा सहारा है। दूसरे शिलालेखों के साथ मिलान करने से अनुमान हो सकता है कि यह सम्भवतः अमुक शताब्दी में खोदे गए थे।

(1) इन शिलालेखों में प्रत्येक पाद पृथक-पृथक एक-एक पंक्ति में लिखा गया है। प्रायः समस्त शिलालेखों में शिला की चौड़ाई में जितने अक्षर अथवा श्लोक आ सकते हैं, उतने ही खोदे जाते हैं। अतः यदि कुछ शिलालेखों में यही विशेषता एक पंक्ति में एक पादसमान रूप ले मिल जाए, तो खोज करने का परिश्रम निरर्थक न होगा। पल्लव राजा महेन्द्रवर्मा प्रथम के महेन्द्रवाड़ी तथा दलवाणूर के गुहालेखों में एक पंक्ति में एक ही पाद है। पूर्ण रूप से परस्पर ऐसा सादृश्य किसी दूसरे लेख में नहीं।

(2) इन लेखों की लिपि में प्रायः प्रत्येक अक्षर के उपरिभाग में गहरे खुदे हुए वर्ग (□) हैं। किसी अक्षर में जैसे “इ” (शि.ले. 1 पं. 6), “ड” (शि.ले. 1 पं 2), “ब” (शि.ले. 1 पं. 20), “ल” (शि.ले. 2 पं. 5), “ग” (शि.ले. 3 पं. 7) तथा उन अक्षरों में जिनके ऊपर आड़ी रेखा खिंची है यह विशेषता नहीं भी पाई जाती। बहुधा ये वर्ग मध्य भारत के प्राचीन लेखों में मिलते हैं। इन्हीं वर्गों के कारण लिपि का नाम “वर्गशिरस्का” अर्थात् “वर्गयुक्त सिरोंवाली” पड़ गया है। मध्य भारत की वर्गशिरस्का लिपि के विषय में डॉक्टर ब्यूलर कहते हैं“अक्षरों के सिरों पर छोटे-छोटे वर्ग हैं, जो या तो बीच में से खुले हैं अथवा सर्वथा भरे हैं। ठोस या भरे हुए वर्गों का आविष्कार सम्भवतः (भोजपत्र पर) मसी से लिखनेवालों ने किया है और बीच में से खुले हुए वर्गों का आविष्कार ताड़पत्र पर (तेज धारवाली) लोहे की सुई से लिखनेवालों ने; क्योंकि अन्यथा ताड़पत्र के फटने का भय था।” महाराज समुद्रगुप्त के एरण (संस्कृतऐरिफिण) ग्राम में प्राप्त शिलालेख में, महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीय के गुप्त सं. 82 (ईस्वी सन् 401) के उदयगिरिगुहान्तरलेख में, महाराज महाजयराज के आरङ्ग ताम्रलेख में, महाराज महासुदेवराज के रायपुर ताम्रलेख में, वाकाटकों के लेखों में तथा महाराज तीवरदेव के लेखों में यही वर्गशिरस्का लिपि प्रयोग में लाई गई है। समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के सन् 401 के लेख से यह निर्विवाद है कि ईस्वी चौथी शताब्दी के अन्त में वर्गशिरस्का लिपि अपने परिपक्व रूप में प्रचलित हो चुकी थी। शिलालेखों में तो प्रायः सब वर्ग अन्दर से भरे हुए ही मिलते हैं, क्योंकि शिला पर गहरे तथा बीच में से खुले हुए वर्गों का खोदना सरल नहीं था। परन्तु ताम्रपत्रों पर खोदने में कोई कठिनाई न होने से उनमें अधिकतर खाली पेटवाले वर्ग मिलते हैं। शिलालेखों में महाराज पृथिवीषेण के “नाचने की तलाई” के दोनों शिलालेख (श्री फ्लीट सम्पादित “गुप्तलेख” सं. 53, 54) अपवाद रूप से समझने चाहिए। उनमें अक्षरों का आकार 0.8 इंच से 1.5 इंच तक है। अक्षरों के असाधारण तथा बहुत बड़े होने पर ही यह सम्भव हुआ कि वर्ग बीच में से पोले रखे जाएँ। मध्य भारत के अतिरिक्त दक्षिण में भी ईस्वी पाँचवीं शताब्दी के दो कदम्ब लेखों में तथा महाराज सिंहवर्म्मन् पल्लव के उरुकुपल्ली के ताम्रपत्र-लेख में यही लिपि प्रयुक्त हुई है। भारत के बाहर भी चम्पा देश में राजा भद्रवर्म्मन् के लेखों में तथा जावा के जान्तनवाले महाराज पूर्णवर्म्मन् के पहाड़ी पर खुदे लेख में इसी लिपि का प्रयोग हुआ है।

(3) मूलवर्मा के लेखों में पाठक एक और विशेषता यह पावेंगे कि अक्षरों में अधोगामिनी सीधी रेखाएँ बाईं ओर अंकुश के समान ऊपर को मुड़ी हुई हैं। ये ही अंकुश दक्षिण भारत में तथा भद्रवर्म्मन् के हानकुक और मींसन के लेखों में विद्यमान हैं। श्री बर्गैज तथा श्री फिनो ने सबसे प्रथम इनकी ओर ध्यान दिलाया था।

हमारे शिलालेखों में से कुछ निदर्शन ये हैं
 शिलालेख 1पं. 1. रे, द्र। पं. 2. कु। पं. 3. पु, त्रा। पं. 5. त्रा। पं. 6. त्र 2।
 पं. 7. न्त्र। पं. 9. न्द्रो। पं. 10. हु, सु, क। पं. 12. न्द्रै, म्प्र।
 शिलालेख 2पं. 2 रा, ज्ञ। पं. 3 पु, त्रे। पं. 4. प्र, के, रे। पं. 6. स्त्रि। पं. 8.
 प्रे, रि।
 शिलालेख 3 पं. 1 रा, को। पं. 2. पु। पं. 3. प्र। पं. 4. पु, रु। पं. 5. हु।
 पं. 6. क। पं. 7. म्पु। पं. 8. प्रै। इत्यादि।

यदि पाठक ध्यान से अवलोकन करेंगे, तो उनको पता लगेगा कि कई अक्षर सादे भी हैं। जैसे शिले. 1 पं. 7 में “रः” पं. 12 में “क” इत्यादि। और कई अक्षरों में यह अंकुश इतनी छोटी है कि बिना गहरी दृष्टि डाले सन्देह होता है कि यह अक्षर का भाग है अथवा खोदने में असावधानी के कारण छोट-सा पत्थर का टुकड़ा उड़ गया है। जैसे शिले. 1 पं. 5 में “पु” पं. 10 में “हु” “सु” इत्यादि।

चतुर्थ शताब्दी के पल्लव राजाओं के प्राकृत भाषा के ताम्रपत्रों की हमारे लेखों के साथ सदृश्यता आश्चर्यजनक है, किन्तु भद्रवर्मन् के चम्पा के लेखों में इन अंकुशों का सर्वथा अभाव है, यद्यपि लिपि की अन्य सब विशेषताएँ समान हैं। इससे श्री फोगल यह परिणाम निकालते हैं कि चम्पा के लेखों की लिपि कोताई के लेखों की लिपि से अधपुरानी है। पश्चिमी जावा में प्राप्त जम्बू तथा चारुन्तन के शिलालेखों में अंकुशों की लम्बाई बहुत अधिक है। कई विद्वान इससे भी यही परिणाम निकालना चाहते हैं कि ये शिलालेख चम्पा और कोताई से अर्वाचीन हैं। दक्षिण भारत के पल्लव राजा सिंहवर्मन् के अंकुशों की लम्बाई जम्बू और चारुन्तन के अंकुशों के प्रायः समान है। इस सदृशता से यह परिणाम निकाला जाता है कि भारत के पल्लव लेखों के कुछ पीछे के ही वे लेख हैं; क्योंकि जब किसी लिपि का भारत में आविष्कार हो चुकता था, तभी भारतीय शिल्पी अन्य देशों में जाकर उस लिपि का प्रचार करते थे।

(4) ज, प, ब, ल और ह इन पाँच अक्षरों में वाम पार्श्व बाई ओर को उभरा हुआ है। भारत में सबसे प्राचीन रुद्रदामन् की गिरनार प्रशस्ति है जिसमें ये अक्षर इस रूप में मिलते हैं। कदम्बों, वाकाटकों, पल्लवों (7वीं शताब्दी) तथा भद्रवर्मन् के चम्पा के शिलालेखों में भी इसी समानता को देखकर एक भारतीय हृदय को कितना प्रमोद और अभिमान होता है कि किसी समय में भारत और अन्य देश एक सभ्यता के सूत्र में पिरोए हुए थे। सहस्रों मील की दूरी कोई दूरी ही न थी।

(5) थ (शिले. 1 पं. 4, शिले. 3 पं. 8), श (शिले. 1 पं. 1².3, 4², 9, शिले. 1, 2, 4, 6, शिले. 3 पं. 1, 2, 3) और ष (शिले. 1 पं. 7, 10, शिले. 2 पं. 3, शिले. 3 पं. 4, 6, 7) इन तीनों अक्षरों के दक्षिण पार्श्व में अन्दर की ओर घुण्डी के सदृश मुड़े हुए अग्रभाग वाली छोटी-सी रेखा है। भारत के सब प्राचीन लेखों में इस मुड़ी हुई रेखा के स्थान में थ के मध्य में बिन्दु तथा श और ष में दक्षिण पार्श्व से

वाम पार्श्व तक आड़ी रेखा पाई जाती है। इस विशेषता का वैशेष्य और भी बढ़ जाता है, जब हम पाठकों को बतलाते हैं कि केवल पल्लव राजाओं के लेखों में ही ये विशेषताएँ उपलब्ध हैं। भद्रवर्मन् के चम्पावाले लेखों में केवल श के रूप में समानता है, ष और थ के रूपों में नहीं।

(6) न (एक बारशिले.1 पं. 4) और म (सात बारशिले. 1 पं. 10, 11, शिले. 2 पं. 6, 7, शिले. 3 पं. 2, 5, 7) ये दो वर्ण पंक्ति के अन्त में कुछ नीचे को तथा अन्य वर्णों की अपेक्षा आधे आकार में खुदे दिखाई पड़ते हैं। ये स्वरहीन हल् अक्षर हैं। स्वरहीन अक्षरों को लिखने का यह बहुत प्राचीन ढंग है। शारदा लिपि में हल् अक्षरों को लिखने का यह ढंग अब तक काम में आता रहा है।

उपर्युक्त प्रमाणों से तथा लिपि-विषयक अन्य सापेक्षिक प्रमाणों से ये परिणाम निकलते हैं कि (1) भारत में अथवा भारत-चीन (Indo-China) में कोई एक शिलालेख ऐसा नहीं जिसके साथ कोताई की लिपि अक्षरशः मिल जाए। (2) भारतवर्ष में शिला पर खुदे हुए लेखों में से किसी के साथ भी इनका विशेष सादृश्य नहीं। (3) केवल दक्षिण भारत में पल्लवों के चतुर्थ शताब्दी के ताम्रपत्रों के साथ ही इनका इस प्रकार सादृश्य है कि यह निश्चित है कि सम्भवतः पल्लवों के साथ मूलवर्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध था, तथा कोताई के शिलालेखों का समय पल्लवों के ताम्रपत्रों के कुछ उपरान्त का है। पल्लवों के ताम्रपत्रों पर कोई तिथि नहीं जिससे उसका काल निश्चित हो सके यदि किसी ताम्रपत्र पर तिथि है भी, तो वह शासक राजा के राज्य वर्षों की गणना मात्र है। पल्लवों की लिपि के साथ सादृश्य के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि कोताई के लेख लगभग 400 सन् ईस्वी के, भद्रवर्मन् के 450 ईस्वी के और पश्चिमी जावा द्वीप के राजा पूर्णवर्मन् का चारुन्तन वाला लेख 500 सन् ईस्वी का होना चाहिए। अर्थात् आज से डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व भारत की सीमा बंगाल की खाड़ी न थी। भारत की बढ़ती हुई सभ्यता के मार्ग में समुद्र रुकावट न डालता था, किन्तु सहायक था। भारत की सीमा कितनी विस्तृत थी, इसका कुछ दिग्दर्शन कराने का यत्न हमने आज किया है। अपने आगामी लेख में हम अपने अन्य पूर्वीय सखिदेशों का संक्षिप्त इतिहास देंगे। साथ ही एक चित्र भी होगा जिससे प्राचीन तथा अर्वाचीन नामों का और भारतीय सभ्यता के वास्तविक विस्तार का ठीक-ठीक पता लग सकेगा।

अजमेर 1927

सन्दर्भ

1. दुख से लिखना पड़ता है कि आज प्रायः सब प्राचीन हिन्दू उपनिवेशों में अधिकतर मुलसमान प्रजा और मुसलमानी राज्य हैं। 15वीं शताब्दी में जावावाले मुसलमान हुए थे।

2. जहाँ-जहाँ हमारा उनसे मतभेद है, वहाँ-वहाँ हमने दर्शा दिया है, और कई स्थलों पर बहुत-सी बातें, जो हमारे विषय से अधिक सम्बन्ध नहीं रखती थीं अथवा हिन्दी के पाठकों के लिए रोचक न होतीं छोड़ दी गई हैं।
3. सम्भवतः यह विष्णु के कच्छपावतार का कच्छप स्वरूप है।
4. इन द्वीपों के मुसलमान इतने कट्टर नहीं हैं जितने भारतवर्ष के। इन द्वीपों में मुसलमान राजाओं ने आकर लोगों को उनकी इच्छा के विरुद्ध मुसलमान नहीं बनाया। किन्तु व्यापारी आकर बस गए और शनैः-शनैः सारी जनता को, जो प्रायः पूर्व ही बौद्ध हो चुकी थी, मुसलमान बनाया।
5. इन शिलालेखों की लेखन-शैली प्राचीन ढंग की होने के कारण साधारण से कुछ विलक्षण है और उसमें संयुक्त वर्णों के अन्तिम वर्ण पूर्व वर्ण से कुछ नीचे दिए गए हैं। छपाई में ये रूप दिखाए नहीं जा सकते; अतः यहाँ साधारण रूप में ही पाठ दिया गया है।
6. शुद्ध रूप वर्मा।
7. इस शिलालेख में तथा दूसरों में भी शकार और हकार के पूर्व अनुस्वार के स्थान में डकार पाया जाता है। व्याकरण की दृष्टि से इस अनुस्वार का तो... हो सकता है, किन्तु डकार नहीं। सम्भवतः यह... का ही, उच्चारण-विशेष के साम्य से, लिखित रूप हो। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि... का प्रयोग केवल याजुष साहित्य तक ही परिमित है। सबसे पूर्व शिलालेखों में याज्ञिकों ने इसका प्रयोग किया, यह प्रामाणिक रूप से कहना कठिन है।
8. प्राचीन शिलालेखों में अन्तिम हल् वर्ण को पंक्ति से कुछ नीचे और छोटे आकार में लिखते थे। उसी का अनुकरण हमने मूल संस्कृत में किया है।
9. शुद्ध रूपराजेन्द्रः।
10. शुद्ध रूपइष्ट्वा।
11. प्राचीन समय में क्ष, झ, ञ इत्यादि का कोई पृथक् चिह्न न था। अन्य संयुक्त वर्णों के समान इनमें भी उत्तर वर्ण पूर्व वर्ण के नीचे लिखा जाता था।
12. “अंशुमत्” सूर्य (और कहीं-कहीं चन्द्रमा) का, तथा असमंजस के पुत्र और सगर के प्रपौत्र का नाम है। यहाँ दोनों ही अर्थ संगत हो सकते हैं। सूर्य (अथवा चन्द्र) से सूर्यवंश (अथवा चन्द्रवंश) की उत्पत्ति तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। सगर का प्रपौत्र “अंशुमत्” भी वंशकर्ता कहा जा सकता है। सम्भवतः इसी सम्बन्ध में सगर का नाम खण्डित शिलालेख में मिलता है।
13. श्री फोगल ने श्री कर्ण का अनुकरण करते हुए “बहुसुवर्णक” को “बहुहिरण्य” नाम के सोम योग का पर्याय माना है। परन्तु दूसरे और तीसरे लेख के समान यहाँ भी दान का ही उल्लेख है। अतः “बहुसुवर्णक” का अर्थ “बहुत सुवर्ण” ही है। “यष्ट्वा” का अर्थ “दत्त्वा” (देकर) होगा। यज् धातु का अर्थ केवल अग्निहोत्र करना ही नहीं, किन्तु दान देना भी है (दे. धातुपाठयज्ञ देव पूजा-संगतिकरण-दानेषु।)

14. श्री कर्ण की सम्मति है कि “म” के नीचे “व” लिखने से प्रतीत होता है कि वास्तव में उच्चारण “व” था। इसके लिए भी फोगल ने प्राचीन जावाद्वीप के काव्य साहित्य में से कई प्रमाण दिए हैं जिनमें “वप्रकेश्वर” नाम आया है।
15. शुद्ध पाठविंशतिङ्गो।
श्री फोगल “विंशतिर्गोसहस्रिकं” को शुद्ध पाठ मानते हैं।
16. मूल संस्कृत में षष्ठी विभक्ति है, जो कर्ता अर्थ में समझनी चाहिए।
17. फोगल ने “यद्” शब्द का अर्थ “when” (जब) किया है, जो ठीक नहीं है।
18. श्री फोगल “एक सहस्र और बीस” अर्थ करते हैं। परन्तु जैसा पाठ हमने मूल में दिया है, उसके अनुसार “विंशति” का “गोसाहस्रिकं” के साथ समानाधिकरण होने से विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध है। अतः अर्थ 20 सहस्र ही होगा, 1 सहस्र 20 नहीं।
19. यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि उपध्मानीय का प्रयोग न करके विसर्ग का ही प्रयोग किया गया है। भारतवर्ष और काम्बोज देश के पूर्वकालिक लेखों में तथा पश्चिमी जावाद्वीप से प्राप्त महाराज श्री पूर्णवर्मा के भी एक लेख में उपध्मानीय का प्रयोग हुआ है।
20. विद्वानों ने “बहुदान जीवदानं” के विविध अर्थ करने का यत्न किया है, किन्तु कोई अर्थ सन्तोषजनक नहीं। हमारी सम्मति में यदि “दानजीव” को एक शब्द मानकर इसका गौ अर्थ किया जा सके, तभी “दान” शब्द का दो बार आना सार्थक हो सकता है (बहु-दानजीव-दानं= बहुत गौओं के दान को)।
21. इसका भाव यह हो सकता है कि गौओं के दान के साथ ही जो कुछ ब्राह्मणों की और कामनाएँ थीं, वे भी पूरी की गईं, तथा आजीवन निर्वाह के लिए भूमिदान किया गया। इसके अतिरिक्त कल्पवृक्ष के दान में देने का कोई निग्राह्य अर्थ नहीं हो सकता।

आक्रामक अंग्रेज और उनका समाज तथा सभ्यता

धर्मपाल*

सन् 1500 के बाद से विश्वभर में यूरोपीय जातियाँ अपना प्रभाव बढ़ाने लगीं और लगभग सम्पूर्ण गैर-यूरोपीय विश्व को किसी न किसी रूप में अपने नियन्त्रण या प्रभाव में लाने में सफल हुई। यह सफलता यद्यपि उन्हें सोलहवीं शती से ही मिल पाई, किन्तु उनकी अपनी सभ्यता दृष्टि बहुत पहले से ही ऐसी ही रही है।

प्लेटो के समय से ही, यूरोपीय दृष्टि यह है कि थोड़े से लोग, मुख्यतः एक चिन्तक या उद्धारक, और उसके अंगरूप सच्चे शिष्य या अनुयायी तथा उन्हें मिलाकर बनी संस्था या निकाय, ये ही सत्य और संस्कृति के वाहक होते हैं। शेष समाज में सत्य और संस्कृति के सर्वोच्च रूप को ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं होता और 'द गुड' और 'द ब्यूटी' की भी समझ नहीं होती, समझने की क्षमता नहीं होती। अतः यदि उनकी बुद्धि और मन पर नियन्त्रण नहीं रखा गया तो बुराई फैलेगी, पाप फैलेगा, बर्बरता फैलेगी। इसीलिए शक्ति का केन्द्रीकरण अत्यावश्यक है। उसी से सभ्यता की रक्षा हो सकती है।

सभ्य वे हैं जो शक्तिशाली हैं, शासक हैं। अपने समाज के शेष लोग बर्बर हैं, उन्हें दास बनाकर रखना चाहिए। तभी सभ्यता का विकास होता है, सुव्यवस्था सम्भव होती है। अपने अतिरिक्त अन्य समाज सम्पूर्णतः बर्बर होते हैं, अन्धकार ग्रस्त होते हैं। उन्हें अपने अधीन लाकर कुछ प्रकाश का संचार करना चाहिए। यह सम्पूर्ण पृथ्वी हमारे अपने-प्रकाश फैलाए जाने के लिए है हमारे द्वारा विश्व के सभी समाजों का उद्धार होना है। उनका उद्धार इसमें है कि वे सभ्यता के 'टूल' (औजार) बन जाएँ। इस प्रकार सभ्यता का अर्थ है यूरोपीय शासकों के विचार का व्यवहार। विश्व के समाजों के उद्धार का अर्थ है उन्हें इस सभ्यता का औजार बनाया जाना।

अरस्तू ने स्पष्ट कहा है 'सम्पत्ति मनुष्य का एक औजार है और स्वयं औजार मनुष्य की सम्पत्ति है। सभ्यता का अर्थ सम्पत्ति की निरन्तर वृद्धि, व्यवस्था और

*जानेमाने चिन्तक, विद्वान, मनीषी

रक्षा। अपनी सम्पत्ति की रक्षा औजारों के द्वारा की जाती है दास एवं सेवक भी ऐसे ही औजार हैं। उनसे काम लेते हुए सम्पत्ति बढ़ाई जाती है।' इस प्रकार सभ्यता का अर्थ हैसम्पत्ति विचार। शासकों यानी सभ्यों के अतिरिक्त शेष सबको सम्पत्ति का औजार बनाना है। यही सभ्यता का विस्तार है। समय एवं आवश्यकता के अनुसार औजार के रूप बदलते रहते हैं।

यहीं यह भी स्मरणीय है कि यूरोपीय शासक सामान्यतः अन्य समाजों को सीधे अपने द्वारा उद्धार योग्य नहीं मानते। ऐसे छोटे कामों के लिए उनके औजार या उनके अर्धविकसित लोग ही पर्याप्त हैं। सभ्य शासक इस उद्धार व्यापार का नियन्त्रण-निर्देशन ही करते हैं। इसी दृष्टि के अन्तर्गत 16वीं शती ईस्वी में विविध ईस्ट इण्डिया कम्पनी बनाई गई। जो लोग अपेक्षाकृत गरीब व मध्यम वर्ग के होते थे और जिनमें जोखिम उठाने का साहस व धन की अभिलाषा होती थी उन्हीं यूरोपीयों को शेष विश्व की खोज करने तथा वहाँ आधिपत्य जमाकर यूरोपीय सभ्यता का प्रकाश फैलाने भेजा गया। यहीं प्रसंगवश स्मरणीय है कि कार्ल मार्क्स ने भी यही माना था कि एशिया अफ्रीका के देशों के समाजों का उद्धार तो यूरोप का 'वर्किंग क्लास' औद्योगिक श्रमिक वर्ग करेगा। कार्ल मार्क्स यूरोपीय सभ्यता के ही एक सबल प्रतिनिधि थे।

अपनी विश्व दृष्टि के प्रति आस्था, संकल्प और मनोबल से तथा उनके अनुरूप संस्थाएँ-व्यवस्थाएँ खड़ी करते हुए यूरोपीय विश्व में फैले साधन या शिक्षा या विज्ञान-प्रौद्योगिकी की दृष्टि से वे उन दिनों विश्व के अन्य समाजों से पीछे थे, आगे नहीं। इस यथार्थ को न जानने के कारण हमारे बहुत से विद्वान भी तरह-तरह के भ्रान्त निष्कर्षों पर पहुँचते रहते हैं। यहाँ हम भारत को सभ्य बनाने के लिए आगे बढ़कर सफल होने वाले इंग्लैंड के ही तथ्यों का इस दृष्टि से स्मरण कर लें।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के सन्दर्भ में सर्वप्रथम तो यही स्मरणीय है कि आधुनिक विज्ञान की अधिकांश उपलब्धियाँ मात्र एक सौ वर्ष पुरानी हैंकार, वायुयान, मोटरलारी, बिजली आदि एक सौ वर्ष पहले नहीं थे। रेल भी 150 वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। 19वीं शताब्दी में जब अंग्रेज भारत में अपना विस्तार कर रहे थे, उस समय तक इंग्लैंड में वहाँ की आवश्यकता की तुलना में बहुत कम लोहा होता था। स्वीडन, रूस आदि से आयात कर वे काम चलाते थे। ब्रिटेन का कच्चा लोहा हल्के किस्म का था और 1700 ईस्वी के आसपास के पत्थर के कोयले का उपयोग वे इस्पात बनाने के काम में करने लगे थे, पर वह कोयला भी घटिया किस्म का था। जे.एम. हीथ ब्रिटेन के एक उद्योगकर्मी थे। वे बाद में शेफील्ड में लोहे और इस्पात के एक प्रमुख निर्माता बने। पहले 1824 ई. में उन्होंने लिखा 'ये सुविदित है कि अपनी आवश्यकता के लिए वांछित लोहे के लिए इंग्लैंड पूरी तरह विदेशों पर निर्भर है। पिछले वर्ष, मात्र इस्पात बनाने के लिए इंग्लैंड में 12 हजार टन से अधिक विदेशी लोहे का आयात करना पड़ा। हर वर्ष 'सोसाइटी फार एनकरेजमेंट ऑफ आर्ट्स'

इंग्लैंड में इस्पात बनाने के योग्य इंग्लिश लोहा तैयार किए जाने हेतु पुरस्कार देने की घोषणा करती है और आज तक उस पुरस्कार का कोई दावेदार नहीं हुआ। लगता है कि कभी कोई होगा भी नहीं। क्योंकि इंग्लिश कच्चा लोहा ऐसे ही स्तर का है और हमारा ईंधन भी घटिया श्रेणी का है।'

'ड्रिल प्लाऊ' यानी वपित्र जो भारत में पुरातन काल से प्रयुक्त होता रहा है, यूरोप में पहले पहल सन् 1962 ई. में आस्ट्रिया में प्रयोग में आया। इंग्लैंड में 'ड्रिल प्लाऊ' का पहला प्रयोग 1730 ईस्वी में हुआ, पर प्रचलन लगभग 50 वर्ष बाद सन् 1780 ईस्वी में हुआ। सिंचाई यूरोप में कभी अधिक नहीं थी।

ब्रिटेन में शिक्षा की दशा का भी स्मरण उपयोगी होगा।

13वीं और 14वीं शती ईस्वी में ब्रिटेन में ऑक्सफोर्ड, केम्ब्रिज एवं एडिनबर्ग विश्वविद्यालय प्रारम्भ हुए। 18वीं शती ईस्वी के अन्त तक ब्रिटेन में लगभग 500 ग्रामर स्कूल थे। सोलहवीं शती ईस्वी के मध्य में वहाँ प्रोटेस्टेंट ईसाइयों ने सत्ता पर एकाधिकार किया था और अधिकांश कैथोलिक ईसाई मठों को बन्द कर दिया तथा उनकी सम्पत्ति एवं आय राज्य के अधीन कर दी। तब से वहाँ शिक्षा एक अत्यन्त सीमित वर्ग को ही दी जाती रही।

ए.ई. डाब्स के अनुसार क्रान्ति के पहले इंग्लैंड के गरीबों को पढ़ने के लिए स्कूल जाने की सुविधा थी। उनके अनुसार उन दिनों ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय एक ईसाई पंथ का धर्मार्थ शिक्षा केन्द्र था और इंग्लैंड का वह मुख्य ग्रामर स्कूल माना जाता था जहाँ ईसाई तत्त्व-ज्ञान, चिकित्सा एवं कानून पढ़ाए जाते थे। किन्तु सोलहवीं शती ईस्वी के मध्य से विपरीत प्रवृत्ति उभरी। तब कुछ समय के लिए एक कानून बना कि अंग्रेजी में लिखी बाइबिल चर्चों में नहीं पढ़ी जानी चाहिए। कानून में प्रावधान था कि निजी तौर पर पढ़ने का अधिकार उन नोबल्स को, कुलीनों को एवं व्यापारियों को है जो गृहस्वामी हैं, किन्तु कारीगरों, किसानों, मालियों, मजदूरों आदि के बेटों को नहीं है। इसका कारण यह बताया गया था कि धर्मग्रन्थ बाइबिल की मुक्त व्याख्या करके वहाँ अव्यवस्था फैलाने की कुछ कोशिश हो रही है। उन लक्षणों को दबाना है। तब कहा गया कि 'हल जोतने वाले के बेटे को हल पकड़ना चाहिए, कारीगर के बेटे को बाप का हुनर अपनाना चाहिए, कुलीनों की सन्तानों को राजकाज का ज्ञान प्राप्त कर कामनवेल्थ का शासन करना चाहिए। क्योंकि हमें सभी प्रकार के लोग चाहिए। और (इसी से) सबका स्कूल जाना आवश्यक नहीं।

फिर 17वीं शती ईस्वी के अन्त से कुछ नई नीति अपनाई गई। साधारण लोगों के लिए कुछ चेरिटी स्कूल स्थापित हुए, ताकि श्रमिक वर्ग की चेतना को इतना तो उन्नत बनाया जा सके कि वे ईसाई धार्मिक निर्देशों को ग्रहण कर सकें। विशेषकर वेल्स में ये चेरिटी स्कूल इसलिए खोले गए ताकि गरीबों को इतनी बाइबिल पढ़ाई जा

सके कि वे रविवारी प्रार्थना में सम्मिलित हो सकें, आध्यात्मिक निर्देश ग्रहण कर सकें। पर ये चेरिटी स्कूल अधिक नहीं चले फिर 1780 ई. के लगभग 'सण्डे स्कूल मूवमेण्ट' शुरू हुए। उसमें भी लोकशिक्षण का मुख्य लक्ष्य ईसाइयत के प्रचार के ग्रहण करने योग्य अधिकाधिक लोगों को बनाना और हर बच्चे को बाइबिल पढ़ने योग्य बनाना था। कुछ समय बाद डे स्कूलों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। 1834 ईस्वी तक अच्छे राष्ट्रीय स्कूलों में भी पाठ्यक्रम मुख्यतः धार्मिक निर्देशों तक सीमित था। पढ़ पाना, और अंकगणित का सामान्य ज्ञान पाठ्यक्रम के लक्ष्य थे। कई स्कूलों में लिखना सिखाने की बात त्याग दी गई, क्योंकि भय था कि इसके बुरे, यानी राज्य के लिए हानिकारक, परिणाम हो सकते हैं।

1802 के एक कानून में यह विधान बना कि छोटे बच्चों को काम पर रखने वाले स्वामी लोग सात वर्षों की एप्रेण्टिसशिप की अवधि में सेवा लेने के साथ-साथ चार वर्ष उन्हें पढ़ना, लिखना और अंकगणित सिखाएँ तथा धार्मिक निर्देश ग्रहण करने के योग्य बनाएँ। रविवार को एक घण्टे इन बच्चों को प्रार्थना सभा में पहुँचाया जाए। किन्तु ये कानून बहुत अलोकप्रिय हुआ। उसका प्रभाव अधिक नहीं हुआ। तभी जोसेफ लंकास्टर द्वारा प्रयुक्त मानीटोरियल शिक्षण-विधि अपनाई गई। इसमें एन्ड्र्यू बेल का भी योगदान था। उन्हीं दिनों यह माना गया कि यह विधि भारत से ग्रहण की गई। उस विधि से लोकप्रिय शिक्षा के कार्य को बहुत सहायता मिली। ब्रिटेन में 1790 ईस्वी में स्कूलों में पढ़ रहे बच्चों की संख्या 40 हजार के लगभग बताई गई है। 1818 ई. में यह संख्या, 6,74,883 तथा 1851 ईसवी में 21,44,377 थी। 1801 ई. में निजी और सार्वजनिक स्कूलों की वहाँ कुल संख्या 3,363 थी तथा 1851 ई. में वह क्रमशः बढ़ती हुई 46,114 तक पहुँची। प्रारम्भ में शिक्षक बहुत सक्षम नहीं थे।

सार्वजनिक स्कूलों में प्रारम्भ में अत्यल्प छात्र थे। सूसवरी के प्रसिद्ध स्कूल में जनवरी, 1797 ईस्वी में कुल तीन या चार लड़के थे। बहुत प्रयास करने पर और स्कूल का पुनर्संगठन करने पर एक वर्ष बाद यह संख्या 20 तक पहुँची। 1851 ईस्वी तक स्कूलों में गणित का नियमित अध्यापन नहीं होता था। छिटपुट अंकगणित सिखाई जाती थी।

सार्वजनिक स्कूलों की चाहे जो दशा थी, किन्तु आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज एवं एडिनबर्ग इंग्लैंड के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय थे। 1773 ईस्वी के बाद वहाँ से भारत आने वाले विद्वान, यात्री, न्यायाधीश आदि इन्हीं विश्वविद्यालयों के शिक्षित जन थे। 1800 ईस्वी में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की स्थिति पर एक दृष्टि यहाँ उपयोगी होगी। कैम्ब्रिज और एडिनबर्ग में भी स्थिति लगभग ऐसी ही थी।

सन् 1803 में पहली बार आक्सफोर्ड में रसायनशास्त्र के प्रोफेसर की नियुक्ति हुई। इसके पहले साहित्य, विधि, संगीत, व्याकरण, दर्शन आदि के प्रोफेसर थे। साथ

ही 1624 ईस्वी में 'एनाटमी' के और 1669 ई. में 'बॉटनी' के प्रोफेसर की नियुक्ति हुई थी। उन्नीसवीं शती ई. के आरम्भ में आक्सफोर्ड से संलग्न 19 कॉलेज और 5 सभा कक्ष थे। कॉलेजों में कुल 500 फैलो थे जिनमें से कुछ प्रत्येक कॉलेज में अध्यापन भी करते थे। कुल 19 प्रोफेसर (विभागाध्यक्ष) 1800 ई. में थे। 1854 में इनकी संख्या 25 हो गई।

उन्नीसवीं शती ईस्वी के आरम्भ में जो मुख्य विषय पढ़ाए जाते थे वे थे ईसाई पंथ विद्या (थिओलॉजी) एवं क्लासिक्स। 'लिटरेट ह्यूमेनिअर्स' नाम से क्लासिक्स की परीक्षा होती थी, जिसमें ग्रीक एवं लैटिन भाषा और साहित्य, मॉरल फिलॉसफी, छन्द-अलंकार शास्त्र एवं तर्क शास्त्र सम्मिलित थे। गणित, विज्ञान एवं भौतिकी के तत्त्वों से सम्बन्धित प्रश्न पत्र भी परीक्षा में होते थे। विधि, चिकित्सा, भूगर्भ शास्त्र आदि पर व्याख्यान उपलब्ध थे।

1805 ई. के आगे इस विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने लगी। उन्नीसवीं शती के आरम्भिक वर्षों में कुल छात्र 760 थे, 1820-24 में यह संख्या 1300 तक जा पहुँची। कॉलेजों के पास अपनी सम्पत्ति थी, विशेषकर भूमि और विद्यार्थियों से प्राप्त धन।

विश्वविद्यालयों का काम इसी तरह के धन से चल रहा था। जहाँ ब्रिटिश, डच, पुर्तगाली और फ्रेंच लोगों के समूह सीधे या कि 16वीं-17वीं शती में बनाई अपनी विविध ईस्ट इण्डिया कम्पनियों के नाम से भारतीय क्षेत्र एवं भारतीय महासागर-क्षेत्र में अपना प्रभाव, आधार स्थिति सुदृढ़ करने में लगे थे, वहीं यूरोपीय विद्वान इस क्षेत्र की सभ्यता को समझने में निरन्तर प्रवृत्त थे, ताकि उस ज्ञान से लाभ उठाकर इस सभ्यता को अपने हिसाब से ढाल सकें और प्रभावित कर सकें। इनमें विविध ईसाई मठों के पंथ प्रचारक एवं पंथाधिकारी प्रमुख थे, विशेषकर जेसुइट लोग। ये लोग भारतीय विज्ञान, सामाजिक प्रथाएँ, रीति-रिवाज, तत्त्व ज्ञान एवं धर्म-पंथों को समझने हेतु सक्रिय थे। कुछ अन्वयों की अधिक रुचि राजनैतिक, ऐतिहासिक तथा आर्थिक विषयों में भी। वे 'कथात्मक' एवं 'उत्तेजनापूर्ण' 'पूर्व' के अपने अनुभव और कथाएँ लिखते थे। यूरोपीय अभिजातवर्ग में इस तरह की लिखित सामग्री की इतनी माँग बढ़ी कि शीघ्र ही एक या एकाधिक यूरोपीय भाषाओं में ऐसे साहित्य का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया। जो वृत्तान्त और विमर्श सीमित किन्तु विशिष्ट विद्वज्जनोचित उपयोग के थे, अथवा धार्मिक अभिप्राय के काम के थे, उनकी हाथोंहाथ अनेक प्रतिलिपियाँ तैयार होती थीं। उदाहरणार्थ, एक विदुषी ने डॉक्टर के अपने शोधग्रन्थ 'एट्रुड सुर ल रोल देस मिसनरीज यूरोपीन्स दान्स ला फार्मेशन प्रीमियर्स देस इडीज सुर इ इन्दे' में बताया है कि अठारहवीं शती के आरम्भ की एक पाण्डुलिपि 'ट्रेट दे ला रिलीजन देस मलावास' की अनेक प्रतियाँ उपलब्ध हैं। उसकी पहली प्रतिलिपि पाण्डेचेरी में 1699 से 1720 ईस्वी तक पेरिस फारे मिशन के प्राकूरेटर रहे टेसीयर

डे क्वेरले द्वारा 1709 ई. में पूर्ण की गई थी। वे 1727 ई. में थाईलैंड के एपास्टालिक वाइकार नामांकित किए गए थे। इस पाण्डुलिपि की प्रतियाँ इन संग्रहालयों में उपलब्ध हैंपेरिस में बीकिलयाथिक नेशनल में 3 प्रतियाँ, बीबिलयाथिक दे ल आर्सनल में एक प्रति, चार्टर्स में बीबिलयाथिक म्युनिसिपेल में एक प्रति, जो कि पहले गवर्नर बेनाई डूमा के पास थी, लन्दन में इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी में दो प्रतियाँ एक कर्नल मैकेंजी के संग्रह में, दूसरी जान लेडेन के। रोम में एक प्रति (बीबिलयाटेका केसानटेसा, जिसमें वेटिकन कलेक्शन हैं)।

ऐसी संचित सामग्री के विशाल संग्रह के कारण यूरोपीय विद्वानों का ध्यान भारत एवं दक्षिणपूर्व एशिया की राजनीति, विधि शास्त्र, विज्ञान और भारतीय गणित ज्योतिष की ओर गया। वाल्टेयर, एबे रेनाल, जां सिलवां बैली जैसे यूरोपीय विद्वान लोगों के प्रभाव को ग्रहण कर ब्रिटेन में भी एडम, फर्गुसन, विलियम राबर्टसन, जान प्लेफेयर और मेकनोची आदि ने भारतीय राज्य राजनीति, समाज-जीवन, सामाजिक सम्बन्ध आदि का विस्तृत विवरण प्राप्त करने में गहरी रुचि दिखायी। अपने सुनियोजित प्रयास से वे सब क्रमशः भारतीय राज्य, राजनीति एवं समाज व्यवस्था पर ब्रिटिश प्रभाव बढ़ाते जाने में सफल होते गए। अपने प्रयोजन के अनुरूप वे भारत के बारे में जानकारी एकत्र करते रहे। इसी प्रक्रिया में चार्ल्स विलकिन्स, विलियम जोंस, एफ डब्ल्यू एलिस, लेफ्टिनेंट विलफोर्ड आदि ने भारतीय साहित्य का भी अध्ययन किया। ऐसा लगता है कि भारतीय ज्ञान, विद्वता और विद्या केन्द्रों के प्रति तीन परस्पर पूरक, किन्तु दिखने में भिन्न, प्रवृत्तियाँ अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश विद्वानों में पनपीं। एक तो ब्रिटिश सत्ता की वृद्धि एवं प्रशासनिक आवश्यकताओं के आधार पर यह जानकारी आवश्यक लगी, ताकि अंग्रेज अपनी राजनीति एवं अपने राजकीय कानूनों को भारतीय परम्पराओं, धर्मग्रन्थों आदि के अनुरूप बनाएँ, भले ही इसके लिए कितनी भी दूर की कौड़ी लानी पड़े। दूसरी धारा मैकनोची जैसे लोगों की थी। अमरीका का अपना अनुभव ध्यान में रखकर ये सोचते थे कि पराजित भारत की सभ्यता बिखर जाएगी, प्राचीन ज्ञान-परम्परा विनष्ट हो जाएगी। इसलिए विशेषतः वाराणसी जैसे केन्द्रों में ज्ञान की जो भी प्रवृत्तियाँ एवं राशि विद्यमान हैं, उनका अभिलेख तैयार कर डालना ये लोग आवश्यक मानते थे। तीसरा जैसा कि स्वयं ब्रिटेन में अपने लोगों को मार-पीटकर, दबाकर, संस्थाबद्ध औपचारिक, कानून को माननेवाली ईसाइयत के अधीन ले आया गया है वैसा ही भारत में भी किया जाय। इसमें ईसाई मिशनरियों के लक्ष्य और प्रोपेगण्डा को सहायता दी जाए, ताकि ईसाई 'प्रकाश' और 'ज्ञान' भारतीयों में फैलाया जा सके। इसके लिए विविध भारतीय भाषाओं का व्याकरण तैयार करना अत्यावश्यक कार्य समझा गया। विलियम विलबरफोर्स के अनुसार इसका लक्ष्य 'पवित्र बाइबिल का प्रचार देशी भाषाओं में करना था' ताकि 'संक्षेप में भारतीय बिना जाने ही ईसाई हो जाएँ'।

ब्रिटिश समाज-व्यवस्था

अपने ऐसे लक्ष्यों के साथ विश्व को अपनी सभ्यता के दायरे में ले आने अर्थात् उन्हें अपनी सभ्यता का औजार बनाने, अपनी सम्पत्ति बनाने के लिए संकल्पित एवं प्रयास-रत ब्रिटिश शासकों द्वारा शासित उनका अपना समाज कैसा था, उसकी व्यवस्था क्या थी, संक्षेप में यह जानना भी आवश्यक है।

शताब्दियों तक ब्रिटिश भूमि पर बार-बार आक्रमण होते रहे और प्रत्येक आक्रमणकारी समूह पहले के समुदायों को दास बनाता तथा नष्ट करता रहा। इस प्रकार ब्रिटेन को अनेक बार पराजय झेलनी पड़ी। अन्तिम बार ग्यारहवीं शती ईस्वी में नार्मन जाति ने वहाँ आक्रमण किया और वहाँ के समाज को पराजित कर अपने अधीन कर लिया। नार्मनों ने अपने ढंग से नई व्यवस्थाएँ रचीं। उन्हीं व्यवस्थाओं का क्रमिक विकास आधुनिक ब्रिटिश साम्राज्य के रूप में हुआ।

ब्रिटेन ने भारत में जो भी किया, वह उससे अधिक भिन्न नहीं है, जो ग्यारहवीं शती ईस्वी में ब्रिटेन पर नार्मन-विजय के बाद से ब्रिटिश राज्य ने अपने यहाँ करना शुरू किया और 19वीं शती ईस्वी तक भी बहुत कुछ करना जारी रखा। 16वीं शती ईस्वी से वही व्यवहार इंग्लैंड द्वारा आयरलैण्ड के साथ किया गया। 16वीं, 17वीं एवं 18वीं शती ईस्वी में संयुक्त राज्य अमरीका में भी ब्रिटिश राज्य के उत्तराधिकारियों ने वे ही सब तरीके अपनाए। बल्कि, एक अर्थ में कहा जाना चाहिए कि भारत की व्यापकता-विशालता के कारण, यहाँ निवास करने वालों की जनसंख्या की सघनता के कारण अथवा भारतीय जलवायु एवं परिवेश, बड़े पैमाने पर औपनिवेशीकरण के उपयुक्त नहीं होने के कारण, ब्रिटेन ने भारत में जो किया, वह अधिक दिनों तक किया गया क्रूर दमन तो था, शायद कुछ कम ही था। उदाहरण के लिए ब्रिटेन में सन् 1818 ईस्वी तक मृत्यु-दंड का प्रावधान 200 से अधिक अपराधों में से प्रत्येक प्रकार के अपराध पर विधि-विहित था, इमनें 5 शिलिंग से अधिक मूल्य की कोई भी वस्तु चुराने का अपराध भी सम्मिलित था। इसी प्रकार लगभग 1830 तक ब्रिटिश सैनिकों को कोई गम्भीर मानी जाने वाली गलती करने पर (विशेष रूप से तैयार) 400-500 कोड़े लगाए जाने की बात सामान्य थी।

नार्मन विजय के बाद इंग्लैंड में जो जो हुआ, उसके विस्तार में जाने का यहाँ अवसर नहीं है। किन्तु सन् 1385 में इंग्लैंड में बहुत बड़ी मात्रा में किसान विद्रोह हुए। देशभर में किसानों की क्षेत्रीय फ्यूडल लार्ड्स से तथा अन्य अधिकारियों से लड़ाई हुई। फिर किसानों ने लन्दन को घेर लिया। राजा को सन्धि करनी पड़ी। फिर बाद में राजा ने छल-घात से किसानों को बातचीत के लिए बुलाया और सेना से घिरवाकर कइयों को मरवा डाला तथा विद्रोह को कुचल दिया। इसी प्रकार सोलहवीं शती ई. के आरम्भ में वहाँ 'इनक्लोजर मूवमेंट' चला। हजार-पाँच सौ एकड़ के क्षेत्र को बाड़े से घेरकर उस दायरे से छोटे किसानों को भगा दिया जाता था तथा बड़े फार्म

स्थापित किए जाते थे। भगाए हुए किसान मुक्त बाजार में सस्ती मजूरी के लिए सुलभ होते और दर-दर भटकते। इन्हीं बड़े खेतों में इस प्रकार खेती एवं भेड़ पालन कर 'सरप्लस' पैदा किया गया। वहाँ ऊन उद्योग विकसित किया होगा। इसे ब्रिटिश पूँजी के निर्माण का महत्त्वपूर्ण अभियान माना जाता है। अनेक कानून बनाकर किसानों से जमीन छीनने को वैधानिक रूप दिया गया। ईसाई मठों आदि की सम्पत्ति भी छीनी गई और इस प्रकार एक सशक्त राज्य का निर्माण आरम्भ हुआ।

आयरलैंड के इंग्लिश एटॉर्नी जनरल सर जान डेविस ने 1610 ईस्वी में आयरलैंड में अधिक प्रभावी नीति अपनाने का सुझाव देते हुए कहा

'आयरलैंड की विजय को परिपूर्ण बनाने में दो कमियाँ सामने आईं। एक तो विद्रोहियों को पर्याप्त कठोरता से नहीं कुचला, दूसरे नागरिक प्रशासन में ढील बरती गई। जमीन का मालिक पहले जमीन को तोड़ता हैं तभी वह जमीन अच्छे बीज लायक बन पाती है। पूरी तरह जमीन तोड़कर और आवश्यक खाद आदि देकर, फिर यदि समय पर अच्छे बीज न बोए गए, तो खरपतवार उग आती है। अतः किसी बर्बर देश को पहले युद्ध से तोड़ा जाना चाहिए, नहीं तो वह फिर बर्बर दशा में लौट जाएगा।'

इस प्रकार अंग्रेज इंग्लैंड और आयरलैंड में अपनी सभ्यता के आदर्शों के अनुरूप व्यवस्था रचते रहे। किसानों की कृषि भूमि छीन लेना, उन्हें विस्थापित करना, सेवकों को 3-4 सौ तक कोड़े बात-बात में फटकारना, छोटी-छोटी चूकों के लिए कठोर दंड देना, मजदूरी की दरें बहुत कम रखना, किसानों से कुल उपज का 50 से 80 प्रतिशत राजस्व के रूप में ले लेना, शिक्षा को विशिष्ट वर्ग का अधिकार मानना, राजनीति पर और शासन पर कुलीनों का अधिकार मानना, फौज के पदों की भर्ती सरकारी रेट या बोली के अनुसार धन लेकर करना आदि 10वीं शती ई. तक ब्रिटिश समाज व्यवस्था के मुख्य लक्षण थे। राष्ट्र के समस्त साधन स्रोत राज्यकर्तावर्ग की सम्पत्ति हैं। उस सम्पत्ति को सभ्यता का औजार बनना है। शासकों के विचार एवं व्यवहार ही सभ्यता है। अपने समाज को सभ्य बनाने के साथ ही विश्व को भी सभ्य बनाना हैयह उनका लक्ष्य था। अपने इसी लक्ष्य के अनुरूप वे भारत आए और यहाँ योजनानुसार बढ़े। हमारा नवप्रबुद्ध वर्ग उनकी सभ्यता के इन्हीं लक्ष्यों की पूर्ति का औजार बना। उसी सभ्य बनने की प्रक्रिया में भारतीय स्वाधीनता खो दी गई। बाद में खोई हुई स्वाधीनता की चिन्ता में नवप्रबुद्धों द्वारा यूरोपीय अधीनता को अधिकाधिक चाहा गया तथा स्वीकार किया जाता रहा। इस अधीनता-विस्तार को ही सभ्यता-विस्तार कहा गया।

पर्यटन

पवन कुमार गुप्त*

उत्तराखंड भारत के तीन सबसे नए राज्यों में से एक है। उत्तर प्रदेश से अलग होने का एक बड़ा कारण यहाँ की भौगोलिक स्थिति, उत्तर-प्रदेश की भौगोलिक स्थिति से भिन्न होना पाया गया। यह कारण, राज्य की अलग माँग करने वाले एवं भारत सरकार दोनों को ही मान्य थी। इसके साथ यह बात भी उठती थी कि क्योंकि भौगोलिक स्थिति बिल्कुल भिन्न है, इसलिए यहाँ के 'विकास' की अवधारणा एवं स्वरूप मैदानी क्षेत्र से अलग होगा। परन्तु अलग राज्य बनने के दस साल बाद भी ऐसा कहीं नहीं लगता कि इस नए राज्य में विकास का स्वरूप किसी प्रकार भी उत्तर-प्रदेश या शेष मैदानी इलाके से भिन्न है या यहाँ के नेताओं, अफसरों या प्रभावशाली वर्ग के दिमाग में कोई अलग तरह की कल्पना भी है।

एक बार उत्तराखंड राज्य बनने के बाद पर्यटन को लेकर एक सम्मेलन में जाने का मौका लगा। वहाँ चाय के समय एक साधु महाराज से मुलाकात हुई। 'विकास' के मुद्दे पर बात होने लगी। सामान्य धारणा कि शहर विकसित और गाँव पिछड़े को लेकर चर्चा होने लगी। साधु महाराज ने बड़ी ही रोचक बात बताई। उन्होंने बताया कि उन्होंने जीवन भर में गंगा की, गौमुख से लेकर गंगा सागर तक, दो बार परिक्रमा की है। यानी एक छोर से गंगा सागर तक पहुँचे हैं और दूसरे छोर से गौमुख वापस आए हैं। ऐसा उन्होंने वर्षों लगातार जीवन में दो बार किया है। उन्होंने बताया कि गंगा के किनारे उन्हें अनेकों गाँव और छोटे-बड़े शहर मिले। उन्हें एक भी गाँव ऐसा नहीं मिला जिसका गन्दा पानी गंगा की ओर जाता हो। वे पारम्परिक ढंग से इस प्रकार बने हैं कि उनका ढलान गंगा की ओर न जाकर दूसरी तरफ को है ताकि गन्दा पानी गंगा जी में न जाए। और उन्हें एक भी ऐसा शहर नहीं मिला जिसकी गन्दगी गंगा जी में न जाती हो। उनका सवाल था, 'फिर भी आप लोग शहर वालों को

* पवन कुमार गुप्त अध्यक्ष 'सिद्ध', हेजलवुड लंदौर कैंट, मसूरी 248 179; मो. 09760049414; ई-मेल : pawansidh@gmail.com

विकसित और गाँव वालों को पिछड़ा कहते हैं। और साथ ही गंगा की सफाई का अभियान चलाते हैं।' इस छोटी-सी बात ने मुझे झकझोर दिया।

सन् 2006 के सरकारी आँकड़ों के अनुसार वर्ष भर में तकरीबन 1 करोड़ 95 लाख पर्यटक उत्तराखंड आए। आँकड़े अपने-आप में प्रभावी होते हैं परन्तु बहुत सारी बातें छुपा भी जाते हैं। पर्यटकों को लेकर बड़ी योजनाएँ बनाई जाती हैं, सड़कें, नए-नए होटल वगैरह-वगैरह। सभी सरकारों का सारा ध्यान ज्यादातर अमीर पर्यटकों की ओर ही रहता है। उन्हीं के लिए ज्यादातर सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं। कहीं मन में यह बात रहती है कि पर्यटन एक व्यापार है और जहाँ बड़ा पैसा आता है वहाँ मुनाफा भी होता है। इसलिए अमीर पर्यटकों की ओर ध्यान स्वतः ही जाता है। यह पिछले पच्चीस वर्षों में सरकारों एवं मीडिया की सोच में आए परिवर्तन को इंगित करता है।

परन्तु इस बात की गहराई में जाने की और इसमें बारीक शोध करने की भी जरूरत है। सरकार तो सामान्य व्यापारी की तरह सिर्फ मुनाफे को नहीं देख सकती और देखना भी है तो उसे समग्र दृष्टि से देखना होगा। उसे देखना होगा कि पर्यटन का पैसा स्थानीय अर्थव्यवस्था को कितना गहरा लाभ पहुँचाता है एवं पर्यटन से कितना प्रदूषण फैलता है, उसका कितना नुकसान है, लोगों की मानसिक दशा पर बाहर से आए पर्यटकों का क्या असर होता है।

उत्तराखंड में मोटे तौर पर तीन प्रकार के पर्यटक आते हैं। सबसे बड़ी तादाद में साधारण साधु और फक्कड़ किस्म के वैरागी आते हैं। 1 करोड़ 95 लाख में से तकरीबन 1 करोड़ के आस-पास ऐसे ही लोग होंगे। ये हरिद्वार या ऋषिकेश से पैदल चलकर चार धाम की यात्रा करते हैं। इसमें इन्हें महीनों लग जाते हैं। इस दौरान इनका बसेरा किसी गाँव के आस-पास ही होता है, जहाँ लोग इनकी रोटी और रहने का बन्दोबस्त करते होंगे। बदले में ये उन्हें पैसे देते परन्तु गाँव वालों के साथ इनकी गप-शप, चर्चा, कथा, उपदेश आदि चलते रहते हैं। इस गप-शप, चर्चा और कथा से गाँव वालों का मन भी बहलता/बदलता है, कुछ उत्साह भी बढ़ता होगा, कुछ ढाँढस भी मिलती होगीकुल मिलाकर गाँव वालों को अच्छा ही लगता होगा। ये साधु प्रदूषण के नाम पर कुछ नहीं फैलातेइनके पास बर्बाद करने को कुछ होता ही नहीं है। ये लोग पानी और बिजली का भी कम-से-कम उपयोग करते हैं। ये खुले में खेत जाते होंगे जहाँ इनका मल चौबीस घंटे या अड़तालीस घंटे में मिट्टी बन जाता है।

दूसरी श्रेणी में पारम्परिक तीर्थयात्री आते हैं। इनकी संख्या 50-60 लाख के लगभग होगी। ये टैक्सी या बस से चारो धामों की यात्रा करते हैं और तकरीबन 7 से 10 दिन तक उत्तराखंड में रहते हैं। अमूमन स्थानीय धर्मशाला या चट्टियों में ही ये रहते हैं। खानापानी इनका स्थानीय ढाबों में होता है। ये टट्टुओं और डाँडियों का इस्तेमाल करते हैं। मोटे अनुमान से ये यात्री एक दिन में 500 से 800 या हजार रुपया खर्च करते होंगे, परन्तु इसका बड़ा हिस्सा स्थानीय लोगों को जाता है। ये जो

पैसा खर्च करते हैं ये स्थानीय अर्थव्यवस्था में गहरे पैठता है। इनसे स्थानीय लोगों को ईर्ष्या या डाह नहीं होती। प्रदूषण के नाम पर ये कुछ प्रदूषण जरूर फैलाते हैं, जैसे कोकाकोला, बिसलरी की बोतलों का प्रदूषण या टैक्सी, बस का धुआँ या प्लास्टिक की थैलियों का प्रदूषण इत्यादि। अपनी 7-10 दिन की यात्रा में तीर्थयात्री तकरीबन 4 हजार से 10 हजार तक का खर्चा करते होंगे, जिसका एक बड़ा हिस्सा, जैसा पहले कहा गया, स्थानीय अर्थव्यवस्था में सीधा जाता है।

अब उन पर्यटकों को लें जो आधुनिक किस्म के हैं और सरकार जिन पर अपना पूरा ध्यान केन्द्रित किए है। उनकी संख्या लगभग 40 लाख होगी। ये पर्यटक आमतौर पर उत्तराखंड में दो दिन से ज्यादा नहीं टिकते। ये शुक्रवार की रात या शनिवार की सुबह यहाँ आते हैं और रविवार की रात को भाग जाते हैं। इनके पास समय नहीं है। यह पर्यटक आधुनिक किस्म का है जो मसूरी, नैनीताल, रानीखेत इत्यादि ज्यादा जाता है। कभी-कभी गंगोत्री और बद्रीनाथ भी चला जाता है। यह कोई धार्मिक भावना से प्रेरित होकर नहीं आता, इसलिए हो सकता है यह गंगोत्री न जाकर हरसिल का प्राकृतिक सौन्दर्य देखकर ही वापस लौट जाए। यह अपने घर में जिस जीवन-शैली का आदी है, जब घूमने जाता है तो उस जीवन-शैली से ज्यादा बेहतरीन या सुविधाजनक जीवन-शैली की तलाश में बड़े होटलों को ढूँढ़ता है। तीर्थ यात्री और इनमें यह एक बड़ा फर्क है पारम्परिक तीर्थयात्री, तीर्थयात्रा के दौरान सहजता से कष्ट झेलता है और अपनी जीवन-शैली को या तो वैसे ही रखता है या जिस जीवन-शैली का वह आदि है उससे कम सुविधा के लिए तैयार रहता है। जबकि आधुनिक पर्यटक अधिक-से-अधिक सुविधा ढूँढ़ता है। यह आधुनिक पर्यटक एक दिन में 1500 से 5-6 हजार तक खर्च करता है। यानी दो दिन में अमूमन 7 हजार रुपए खर्च करता होगा। कुल पैसे को देखा जाए तो यह पर्यटक भी दो दिन में उतना ही पैसा खर्च करता है जितना कि एक पारम्परिक तीर्थयात्री 7-10 दिन में खर्च करता है। लेकिन आधुनिक पर्यटक के पैसे का एक बड़ा हिस्सा स्थानीय अर्थव्यवस्था को नहीं पहुँचता। वह जहाँ टिकता है, जिस प्रकार का खाना खाता है, जिस प्रकार समान खरीदता है (शराब आदि) उसका एक बड़ा हिस्सा पहले ही राज्य के बाहर चला जाता है। एक छोटा-सा हिस्सा स्थानीय अर्थव्यवस्था को लाभ पहुँचाता है। यह पर्यटक सबसे ज्यादा प्रदूषण फैलाता है क्योंकि हर चीज, जिसे यह इस्तेमाल करता है ऐसे पैकेज में आती है जो प्रदूषण फैलाए बिना नहीं रहती। यह पानी का इस्तेमाल करने से पहले सोचता भी नहीं है कि बरबादी हो रही है। आम साधु की तुलना में यह शायद 40 गुना ज्यादा पानी खर्च करता होगा और तीर्थयात्री की तुलना में 10 से 15 गुना ज्यादा खर्च करता होगा। यही बात बिजली की खपत पर भी लागू होती है। यह जहाँ भी जाता है वहाँ सामाजिक प्रदूषण भी फैलाता है क्योंकि इसको देखकर स्थानीय लोगों में एक तरफ ईर्ष्या और डाह उत्पन्न होती है और दूसरी तरफ उनके 'विकास' के नकली प्रतिमान बनते हैं।

‘जागरी’ : बंग साहित्य की एक अनुपम देन

देव नारायण पासवान ‘देव’*

यह सच है कि रचनाकार देह से दिवंगत हो जाया करता है, किन्तु उसकी रचना या सर्जना सदैव जीवित और जाग्रत रहती है। बंग साहित्याकाश में देह से दिवंगत हो चुके उसी प्रकार के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र का नाम है सतीनाथ भादुड़ी जिनका ‘जागरी’ नामक उपन्यास बांग्ला कथा साहित्य में सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक कृतियों में एक है और अविभाजित पूर्णिया की धरती पर सृजित उस जनपद और उसके जनगण के लिए एक अद्भुत अविस्मरणीय भेंट है। कोलकाता विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध भाषाविद सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने इस विश्व-प्रसिद्ध उपन्यास के विषय में अपने ‘प्राक्कथन’ (14 जुलाई, 1948 ई.) में कहा है कि “मेरा भी विचार है कि यह ग्रन्थ केवल बंग साहित्य के लिए ही गौरव-स्थल नहीं बना है, बल्कि विश्व-साहित्य में इसने अपना स्थान बना लिया है।” बंग-साहित्य के एक श्रेष्ठ साहित्यकार अतुलचन्द्र गुप्त का भी मानना है कि ‘जागरी’ विश्व-साहित्य का श्रेष्ठांश है। इस सन्दर्भ में उन्होंने तत्कालीन ‘देश-पत्रिका’ में अपने जो भावोद्गार व्यक्त किए, वे इस प्रकार हैं: “पुस्तक समाप्त कर लेने के पश्चात् मन चकित हो गया। तभी एकाएक याद आई रवीन्द्रनाथ की वे पंक्तियाँ...प्रातः दरवाजा खोलकर यदि एक नवीन अंकुर देखें तो विशेष विस्मय नहीं होगा, किन्तु यदि उसके बदले में एक विशाल वटवृक्ष देखें जो कि पिछले दिना वहाँ नहीं था, तो आश्चर्य की सीमा न रहेगी।” तो ऐसा है बांग्ला साहित्य के मध्य यह विशाल वटवृक्ष, जिसकी विषय-वस्तु के सम्बन्ध में प्रकाशक का ‘निवेदन’ भी उल्लेख योग्य है। ‘निवेदन’ में कहा गया है कि ‘एक विचित्र वातावरण में एक परिवार के चार व्यक्ति जाग रहे हैं। परिवार के बड़े बेटे सोशललिस्ट बिलू को सुबह होते ही फाँसी होगी। फाँसी सेल में जागकर वह मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है। उसी जेल के एक अपर डिविजन वार्ड में गांधीवादी पिता नजरबन्द हैं। औरत किता में बेचारी माँ

* प्रो. देवनारायण पासवान ‘देव’। संपर्क : देवकुटीर, पो. बिहारीगंज, जि. मधेपुरा, पिनकोड852101 (बिहार), मो. 9162522677

हैं। जेल-गेटपर है छोटा भाई नीलूकिसी फासिस्ट विरोधी दल का एक सदस्य। उसने भाई के विरुद्ध अदालत में गवाही दी है और आज भाई की लाश लेने आया है। सब अपने-अपने दृष्टिकोण से आदर्शनिष्ठ हैं। लेकिन इसके बावजूद उस घुन लगे हुए पारिवारिक जीवन की 'ट्रेजेडी' आज अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी है।" प्रस्तुत उपन्यास के कथानक का यह सार-संक्षेप है।

मूल लेखक के कथनानुसार 'इसमें भारतीय राजनीतिक जागृति के साथ-साथ विभिन्न राजनीतिक मतवादों का संधान भी है और उस आन्दोलन का तरंग-विक्षोभ भी, जो स्थान-विशेष में पारिवारिक जीवन की भित्ति पर चोट कर रहा है।' एक ऐसे ही चोट खाए परिवार की यह कहानी है जिसे सन् '42 के अगस्त आन्दोलन की पृष्ठभूमि में देखने-परखने और उकेरने की जरूरत है। बहरहाल, आज हम जिस उपन्यास के विवेचन-विश्लेषण का दुस्साहस कर रहे हैं उसका बांग्ला में अब तक कई संस्करण हो चुके हैं। यही नहीं, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि कई भाषाओं में भी इसके अनुवाद हुए हैं और हो रहे हैं। हम जिस 'जागरी' का समीक्षण करने बैठे हैं वह उसके हिन्दी-अनुवाद के सहारे; क्योंकि मैं बांग्ला नहीं जानता, सिर्फ हिन्दी जानता हूँ; थोड़ी-थोड़ी अंग्रेजी और संस्कृत भी; परन्तु बांग्ला बिलकुल नहीं जानता। फिर भी 'जागरी' की समीक्षा कर रहा हूँ और इसका श्रेय हिन्दी-अंग्रेजी के कवि-लेखक पूर्णिया के स्वनामधन्य डॉक्टर सत्येन्द्र कुमार सिन्हा 'निगम' को है जिन्होंने अपनी 'वर्तिका' (त्रैमासिकी) के लिए यह श्रमसाध्य कठिन कार्य मुझसे कराया था। लेकिन पत्रिका के बन्द हो जाने के कारण यह समीक्षा-लेख छप नहीं पाया। इसका डॉक्टर 'निगम' को आज भी दुख है।

जो भी हो, हिन्दी में 'जागरी' के अनुवाद का श्रेय कई भाषाओं को वरेण्य विद्वान पूर्णिया के दिवंगत प्रोफेसर नारायण प्रसाद वर्मा को है। यदि सच कहूँ तो प्रो. वर्मा की चमत्कारी कलम का यह अनुवाद कर्म हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों के लिए पूजा के प्रसाद से कम महत्त्व का नहीं है। ऐसा मैं मैं इसलिए कह रहा हूँ कि यह अनूदित उपन्यास 'जागरी' अपने कथ्य और शिल्प में मूल बांग्ला का रसास्वादन कराता है। यह कहना है पूर्णिया के बांग्ला-मर्मज्ञ अनन्त गोपाल दत्त का और विभिन्न भाषा लेखों के खोजी संग्रहक बच्चा यादव जी का भी, जिन्होंने अपने गृह-पुस्तकालय में ऐसी दुर्लभ कृतियों का संग्रह कर रखा है। अस्तु!

यह औपन्यासिक कृति यद्यपि ब्रिटिशकालीन सत्ता सन्दर्भ को लेकर सृष्ट हुई है तथापि लगता है कि इसके मूल लेखक के भीतर जिस प्रकार की निरपेक्ष दृष्टि है उसी प्रकार की कथा-प्रवीणता एवं संवाद-कौशल तथा परकाया प्रवेश की प्रतिभा-क्षमता भी है; अन्यथा यह संभव नहीं था कि उपन्यास की कथा-यात्रा में आए कांग्रेस-कर्मियों के साथ-साथ सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, फारवर्ड ब्लॉक एवं किसान सभा के सदस्यों एवं अन्यान्य पात्रों के साथ समुचित न्याय हो पाता। लेखक की ओर से कहीं, किसी

स्थान पर, किसी पात्र या दल अथवा उसके मत-मनांतर को लेकर कोई आग्रह परिलक्षित नहीं होता। यही वह निरपेक्ष स्रष्टा-दृष्टि है जिसके कारण विभिन्न एवं विच्छिन्न विचारधाराओं से आप्लावित इस उपन्यास की कथा-शैली अपने बार-बार के दुहराव के बावजूद इतनी सशक्त, सुगठित, सुचिंतित एवं प्रभावपूर्ण मार्मिक जिज्ञासा से परिपूर्ण है कि एक ही बैठक में या कहिए एक ही साँस में इसे पढ़ लेने में कोई ऊब या थकान महसूस नहीं होती।

यहाँ हम सच-सच यह कहना चाहते हैं कि सुहृद भावुक पाठकों को यह उपन्यास स्थल-स्थल पर रूलाता हैदुख के सागर में डूब जाने के लिए नहीं, बल्कि हृदय के समस्त विजातीय पदार्थों के प्रक्षालन में सहायता करता है तथा शुद्ध मानवीय अनुभूतियों एवं दिव्यभावों का साक्षात्कार कराता है। कदाचित् इसी सत्य को दृष्टि पथ में रखते हुए इसके प्राक्कथनकार भाषाविद् चाटुर्ज्या इस उपन्यास को 'सत्साहित्य' होने का गौरव देते हैं और कहते हैं कि "जागरी" पढ़ते समय लेखक के सत्य-दर्शन, सत्य-समीक्षण और सत्य-प्रकाशन की शक्ति से मेरा हृदय आनन्द से भर उठता है। जिस सहानुभूति के साथ इन्होंने अपने-अपने मुँह से उपन्यास के चार पात्रों के बाह्य तथा आभ्यांतर प्रेरण के उद्घाटन किया है उससे लगता है कि लेखक जेलखाने (पूर्णिया मंडलकारा) के जीवन से, वहाँ के दूषित वातावरण से सुपरिचित हैं। जिस सच्चाई और सफाई से उसका बयान उन्होंने किया है, वह तो प्रथम श्रेणी की वस्तुनिष्ठता का परिचायक है।"

वस्तुतः यहाँ यह विचारणीय प्रश्न है कि जिस वृद्ध कैदी दम्पति का युवा पुत्र 'जीवन की व्यर्थता' के चिन्ताभार से उद्वेलित-आन्दोलित हो मृत्यु का आलिङ्गन करने को सन्नद्ध हो उस दम्पति की वात्सल्यपूर्ण मनोवेदना को वाणी देना कितना कठिन सारस्वत कर्म था, जिसका सफल निर्वाह उपन्यास में हुआ है? और यह प्रश्न भी कि 'आदर्श विपर्यय' में घिरे हुए मृत्यु के लिए सन्नद्ध उस कैदी के छोटे भाई के रक्त-सम्बन्ध एवं नीतिगत सिद्धान्त को सही-सही अभिव्यक्त कर पाना क्या उतना आसान लेखकीय कर्म था, जिसका कुशल प्रणयन इस उपन्यास की सम्पदा है? अतएव प्राक्कथनकार चाटुर्ज्या का यह कथन यहाँ उद्धृत करने योग्य है कि "...इन चारों पात्रों (माता-पिता एवं भाई द्वय) ने जिस ढंग से घटनाओं के घात-प्रतिघात, चरित्रों के विकसन और मन के गहरे से गहरे प्रदेशों को खोलकर अवचेतन की क्रिया दिखाई है, वह किसी भी भाषा-साहित्य के लिए अपूर्व रस-सर्जना बनी है।"

वास्तव में उपन्यास का यह मर्म-स्थल देखने योग्य है कि एक कैदी के पिता को अपने युवा पुत्र के फाँसी दिए जाने का मूहूर्त मालूम है और वह अपना पितृत्व निर्वाह नहीं किए जाने की चिन्ताग्नि में जल रहा है। इस मर्म का उदाहरण इस उपन्यास से लेना ही अधिक उपयुक्त होगा। हेडमास्टरी के पद से त्यागपत्र दे चुका वह सुराजी गांधीवादी इस अनुताप से अनुतप्त हैं कि "...किसी दिन उसके (पुत्र के)

साथ दिल खोल मिला नहीं। गोद में लेकर दुलार नहीं किया। मेरा ख्याल था कि लड़कों के साथ दोस्ती करने से उनके ऊपर शासन करना मुश्किल है।... मैं स्कूल-मास्टर था। अभ्यास के दोष से हो या और किसी कारण से हो, संसार के सभी क्षेत्रों में यही शिक्षक-छात्र का सम्बन्ध देख पाया हूँ। कामरेड कभी हो न सका।... बिलू की माँ ज्यादा बोलती नहीं है। उसको भी एक दिन मुँह खोलकर बोलते सुना था, 'अपने लड़कों की ओर भी जरा फिर के देखो।' उस दिन थोड़ा हँसकर मैंने मन की झंप मिटा ली थी। लेकिन तब से अगर लड़कों के साथ मिलने-जुलने का रिश्ता रखता, तो आज उनके साथ स्नेह-प्यार का सम्बन्ध होता, डर और आदर का नहीं। ..निलू-बिलू का प्यार-दुलार जो कुछ है, सब माँ के साथ है। एक साथ खाने के लिए बैठना, मन की बातें कहना, बचपन की तरह अब भी सब ज्यों का त्यों है।”

वह कैदी पिता इस अनुताप से भी अनुत्पन्न है कि “कम-से-कम आज रात में भी (फाँसी की पूर्व संध्या में) अगर बिलू के नजदीक रह सकता। नहीं, एक साथ नहीं रहना ही ठीक हुआ है। ऐसा होने से शायद दोनों आदमी ही टूट जाते। लेकिन तब आखिरी वक्त तक बातें तो कर सकते। पर शायद ढूँढ़ने पर बात ही नहीं मिलती। ..मेरे सामने आने से ही देखता हूँ, बिलू सकुचा जाता है।...वह हमेशा शर्मीला रहा। लेकिन वह दोष तो मेरे शिक्षा देने का है।...अगर शिक्षाकी त्रुटि से ही उसका स्वभाव ऐसा हुआ, तो निलू का स्वभाव ऐसा क्यों नहीं हुआ?... उसके लिए मैं ही जवाबदेह हूँ।”

इसी भाव-वेदना एवं व्यथित चेतना के साथ सुबह हो जाती है अब कुछ ही पलों में उसके ज्येष्ठ पुत्र बिलू को फाँसी हो जाएगी। इसी विचार-व्यथा एवं चिन्ता-भार में वह कैदी पिता जेल के भीतरी और बाहरी संसार के जन-जागरण और स्वातंत्र्य आन्दोलन की गतिविधियों को देखने परखने की क्रिया में स्वयं को सलिलपत्त कर देता है। तभी उसके कानों में कैदी मेहरचन्द के मुख से राष्ट्रगान की आवाज आती है ‘राष्ट्र-गगन की दिव्य-ज्योति...’ और फिर सहगान उभर आता है ‘रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीताराम...’ सभी तन्मन भाव से ऊँचे स्वरों में गा रहे हैं। मगर महात्मा जी के इस दिव्य भजन के दौरान ही मानो वृद्ध कैदी पिता की आँखों के आगे युवा पुत्र बिलू की फाँसी की डोर खींची गई है और असहाय पिता भीतर ही भीतर चिक्कार कर उठते हैं ‘बिलू!...भगवान!...महात्मा जी!...बिलू की माँ को यह चोट सहने की शक्ति दो।...’ भजन चल रहा है। इस स्वर-लहरी से उत्पन्न होकर जो हवा चली है उससे इस असीम वेदना-काल में भी कैदी पिता का मन द्वन्द्व से परे होकर शनैः-शनैः शान्ति से भरता चला गया है ‘अथाह शान्ति और असीम मानव-प्रेम ने होनहार पुत्र के मृत्यु-शोक को डूबो दिया है मानो व्यर्थ जीवन के पीछे एक सदा विद्यमान अर्थ मिला।’...

‘व्यर्थ जीवन के पीछे एक सदा विद्यमान अर्थ’ तो फाँसी-सेल में बन्द गांधीवादी पिता के ज्येष्ठ पुत्र सोशलिस्ट बिलू को भी मिला है उस सोशलिस्ट बिलू को जिसका छोटा भाई निलू उसे फासिस्टों की श्रेणी में रखकर उसके विरुद्ध अदालत में सरकार की तरफ से गवाही देता है। इस व्यर्थ जीवन को देखने की उसकी अपनी दृष्टि है। समाज और परिवार को देखने की भी उसकी अलग दृष्टि है। अंग्रेजी शासन-सत्ता की तरफ से थोपी गई दासता की जिन्दगी को भी राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने की गांधीवादी पिता और फासिस्ट विरोधी भाई से उसकी अलहदा दृष्टि है। यही वह विचार-दृष्टि है जिसके कारण वह खुद के पकड़े जाने और फाँसी सुनाए जाने का किंचित मलाल नहीं रखता है। यद्यपि उसके अन्दर बचने की भी एक इच्छा पलती है इच्छा पलती है कि जो कुछ भी भोग की वस्तु है उसे एकत्र कर ले वह। वह सोचता है, ‘यदि इस अन्तिम घड़ी में मेरी फाँसी रद्द करने का हुक्म आ जाय।...ऐसी कितनी कहानियाँ पढ़ी हैं, पिथियस और डैमन की...’ वह सोचता है कि ‘निरर्थक जीवन के अन्तिम विस्मृति के स्तर-स्तर में जमा हुआ है एक आत्म-स्मृति-कंकाल! इसका परिचय उसके सिवा और किसी को मालूम नहीं। हाय, वह तैंतिस बरस की जिन्दगी में ही कुत्ते-बिल्ली की मौत मरेगा।...कोई उसकी मृत्यु पर दो बूँद आँसू बहानेवाला भी नहीं।...’

पुनः सोच की दिशा बदलती है और जीवन की आशा-आकांक्षा से किंचित मुक्त होकर ‘जेल के भीतर के एक टुकड़ा संसार’ को अनुभव में वह मग्न हो जाता है जेल के भीतर के जाड़ा-गर्मी-बरसात और सूर्य-चन्द्र-तारे की बिखरती मधुरिम छटा में। ‘काल की बैसाखी का यह मतवालापन’ जेल की दीवाल के भीतर भी उन सबकी बेरोकटोक गति’ में वह कुछ क्षणों के लिए डूब जाता है। लेकिन सुबह के उजाले में, फाँसी-सेल के आँगन में, एक साथ जेल अधिकारियों के असंख्य जूतों की आवाज पर वह चौंक उठता है और महसूस करता है कि उसकी आखिरी घड़ी आ गई है। इस पद-ध्वनि के साथ ही उसके हृदय की गति बढ़ जाती है। देह काँपने लगती है। जोर-जोर से श्वास चलने लगती है। आँखों के सामने अंधकार छा जाता है और वह अपनी सूखी जीभ को तर करके पुकार उठता है ‘सरस्वती!...माँ!...चाची!... बिलू!...बिलू, तूने यह क्या किया?’ और वह मजबूत मुट्ठी से फाँसी-सेल के सीखेंचे को जकड़कर धर लेता है।

इस प्रकार वह ‘व्यर्थ जीवन के पीछे एक सदा विद्यमान अर्थ’ को महसूस करता है और यही कारण है कि अपने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक स्वातंत्र्य-संघर्ष तथा राजनीतिक एवं सामाजिक सोच के प्रति प्रतिबद्ध होकर भी, जेल-अधिकारियों की तरफ से मिलनेवाले समस्त सुविधा-प्रस्तावों के प्रति निस्पृह होकर भी अन्त में अपने जीवन और अपने सम्बन्धों के प्रति एक स्वाभाविक मानवीय आसक्ति, एक लगाव,

एक शिकवा और एक अंतहीन निराशा से आक्रांत उसका चारित्रिक वैशिष्ट्य निखरकर सामने आ गया है।

यदि सच कहूँ तो अगस्त-क्रान्ति के दिनों में समस्त राजनीतिक आन्दोलनों, सामाजिक गतिविधियों एवं संघर्षों तथा तत्कालीन वातावरण के बीच पारिवारिक जीवन के आलोक-अंधकार से परिपूर्ण घात-प्रतिघात की जो कहानी प्रस्तुत उपन्यास में कही गई है, उसमें 'व्यर्थ जीवन के पीछे सदा एक विद्यमान अर्थ' का ही उद्घाटन हुआ है। वस्तुतः 'व्यर्थ जीवन के पीछे एक सदा विषम अर्थ' तो बिलू की अन्तिम साँस के अहसास में उसकी वंदिनी माँ को मिला है। जेल की औरत किता में बन्द वह अभागिन माँ इस बात से मर्माहत हो आर्तनाद कर उठी है 'बिलू!...इतनी तकलीफ से तुझे आदमी बनायायों ही धोखा देकर चले जाओगे?' एक ममतामयी माँ का यह मार्मिक वात्सल्य भाव कितना हृदयग्राही है, जब वह सोचती है कि 'बिलू को मैंने हृदय में पाया है। उसे छूती हूँ, देह पर हाथ फेरती हूँ, जोर से पकड़े हूँ, किसी तरह नहीं छोड़ूंगी। किसकी मजाल कि माँ की छाती से चिपके हुए बच्चे को छिनकर ले जाय।...'

जेल की औरत किता में रामायण की आरती चल रही है। वंदिनी स्त्रियाँ सहगान गा रही हैं 'आरती श्रीरामायण जी की...' और बिलू की माँ पुत्र की बख्शाइस के लिए अपनी गृहदेवी को गोहारती हैं 'माँ पूर्णेश्वरी, मेरा सब कसूर माफ करो। तुम्हारी दया से ही मैंने बिलू को गोद में पाया। तुम्हारे नाम पर ही तो बिलू का नाम रक्खा था 'पूर्ण'।...माँ तुम तो जाग्रत देवी हो। बिलू तो एक तरह से तुम्हारा ही बेटा है। उसे इस बार बचा लो। और अब मैं तुम्हारा कोई कसूर नहीं करूँगी। और मैं गांधीजी को तुमसे बड़ा नहीं मानूँगी।...' यह आर्त माँमहात्मा गांधी को सभी देवी-देवताओं से बड़ा माननेवाली माँ आज टूट गई है और अमूर्त देवी-देवता से मूर्त महात्मा गांधी को कमतर आँकने और मानने को बाध्य हो गई है। आज वह गाँव के 'डिहवार देवता' से भी अपनी गलती के लिए सरस्वती के साथ बिलू के ब्याह न करने की अपनी गलती के लिए क्षमा माँगती है और आर्त स्वर में कहती है 'डिहवार देवता! मेरे बिलू को बचा लो। उसके बाद जिसमें तुम खुश रहो, वही करूँगी।' और फिर करुण गोहार, और अधिक व्याकुल पुकार, और भी वेदनापूर्ण चित्कार! लगता है, जैसे माँ पूर्णेश्वरी तथा डिहवार देवता ने एक दुखिया माँ की करुण पुकार सुन ली है। बिलू की फाँसी ऊपरी हुक्म से तत्काल मुल्लवी हो जाती है। छोटे भाई निलू को अपने अग्रज बिलू के विरुद्ध गवाही देने को लेकर बहुत लोकापवाद सुनना-सहना पड़ा था। लेकिन वह तो फासिस्ट-विरोधी है, पर फासिस्ट-विरोधी होने के बावजूद वह बड़े भाई की लाश लेने हेतु जेलगेट के बाहर रातभर जागरण करता रहा है और सोचता रहा है कि "मैंने कुछ भी अन्याय नहीं किया है, सिर्फ अपना कर्तव्य निभाया

है।...मैंने गवाही दी है राजनीतिक सिद्धान्त के कारण और कर्तव्य के लिए दूसरे लोगों की तरह लोभ में पड़कर नहीं।" मगर उसी अनुज निलू को प्रातःकाल होने पर अधोर बाबू के मुख से यह संवाद सुनकर सुखद आश्चर्य हुआ है कि 'गवर्नमेण्ट की चिट्ठी आई है, फाँसी का हुक्म मुल्लवी रहेगा।'

इस प्रकार उपन्यास के कथानक को दुखान्त होने से बचा लिया गया है। कथानक का अन्त न तो सुखान्त में होता है, न तो दुखान्त में। एक प्रकार की आशा, आशंका और मार्मिक आह्लादपूर्ण आस्था के साथ उपन्यास की कथा का समापन होता है। कथा-समापन के इस वैशिष्ट्य को 'प्रसादान्त' की संज्ञा दी जा सकती है, जो भारतीय कला और रचना-संस्कृति के अनुरूप है।

'जागरी' के मूल लेखक सतीनाथ भादुड़ी अपने 'ढोढ़ायचरित मानस' के लिए भी साहित्य-संसार में सुख्यात हुए हैं। हिन्दी साहित्य के जिज्ञासु एवं सुधी पाठक उनकी इन दोनों महान सर्जनाओं से सुपरिचित हैं। खासकर उनकी कृति 'जागरी' के इस अनुवाद-कर्म से हिन्दी भाषा-भाषी पाठक विशेष लाभान्वित हुए हैं। जैसा कि कहा गया है, यह लाभ देने का श्रेय बहुभाषाविद् प्रोफेसर नारायण प्रसाद वर्मा को जाता है जिन्होंने बांग्लाभाषा और उसके साहित्य से अनजान-अपरिचित मेरे समान पाठकों को इसके रसास्वादन का सुअवसर प्रदान किया। सचमुच, बंग-कथा-संसार में बंकिम-शरत के झण्डे को ऊँचा रखने के लिए केदारनाथ तारा से होकर बलाइचन्द्र मुखोपाध्याय वनफूल तक तथा आनन्दशंकर, अचिंत्य कुमार, विभूतिभूषण बनर्जी, माणिकचन्द्र, शैलजानन्द, ताराशंकर वंद्योपाध्याय, मनोज वसु प्रभृति बंग-कथाकारों के मध्य एक नई जमीन, एक नया आकाश और एक नया प्रकाश लेकर उपस्थित हुए सतीनाथ भादुड़ी। सारांश यह कि सन् 1945 ई. का सर्वश्रेष्ठ बांग्ला उपन्यास घोषित है यह 'जागरी'।

इस उपन्यास में जो वस्तु सर्वाधिक आकृष्ट और चमत्कृत करती है वह है इसका कथाशिल्प। एक ही स्थान से यह कथा प्रारम्भ होती हैमंडलकारा पूर्णियाँ से, जिसके भीतर बन्द तीन पात्र हैं; फाँसी सेल में ज्येष्ठ पुत्र बिलू, अपर डिविजन वार्ड में महात्मा गांधी के अनुयायी कांग्रेसी पिता तथा औरत किता में महात्मा जी की भक्त माता। जेलगेट के बाहर है कनिष्ठ पुत्र निलू। ये चारों पात्र अपनी जबानी अपनी कथा कहते हैं, अपनी-अपनी तरह से अपने परिजनों के प्रति अपनी राय जाहिर करते हैं तथा आत्मालोचन एवं आत्मविश्लेषण करते हैं। यही नहीं, ये चारों प्रमुख पात्र पुराने पुरैनियाँ के जनपद और जनगण को अपने-अपने नजरिए से देखते-परखते हैं। इनकी नजरों में ये जनपद और जनगण अलग-अलग अर्थ और सन्दर्भ रखते हैं। यदि प्रेमचन्द के शब्दों में, 'साहित्य मानव-जीवन का चरित्र-चित्रण है', तो यह उपन्यास चरित्र-चित्रण का एक सहज-सुन्दर अलबम है। इसके प्रमुख किरदारों के कार्य-व्यापार

और व्यवहार, प्रकृति और प्रवृत्ति, गतिविधि और चित्तवृत्ति जुदा-जुदा हैं, पर सबके सब एक-दूसरे के सुख-दुःख एवं वेदना-विषाद से बँधे एवं जुड़े हुए हैं। कहना नहीं होगा कि अपनी काया और कथन में, संवेदना और सन्देश में यह उपन्यास प्रकृति और देशकाल को मानव-जीवन के कार्य-व्यापारों के साथ अनुस्यूत करने में सर्वाधिक सफल हुआ है। इसके अनुवादक प्रो. वर्मा के अनुसार इस औपन्यासिक कथा का अन्त जीवन की धड़कन और प्रकृति के रूपायण के साथ समृद्ध एवं काव्यमयी सर्जनात्मक भाषा में इस प्रकार हुआ है—“...धमनी का स्पंदन फिर प्रारम्भ हुआ। गाछों पर पंछियों का कलरवपत्ते-पत्ते में प्रातः समीर का कम्पनलास्यमयी पृथ्वी पर अनेक छन्दों से लीलामय हो उठी... पत्थर के जेलगेट के ऊपर के तल्ले पर हठात् उषा के रक्तिम प्रकाश की मधुर झलक दिखाई पड़ी।”

ऐसी प्रसादांत अनुपम-अनूठी औपन्यासिक कृति के लिए इसके मूल लेखक भादुड़ी जी एवं अनुवादक प्रो. वर्मा जी के प्रति शत-शत नमन!

किस प्रकार विलुप्त होती हैं संस्कृतियाँ

महीप सिंह*

कनाडा की राजधानी ओटावा के मुख्य भाग (डाउन टाउन) से गुजर रहा था, मुझे सड़क के किनारे एक फुटपाथ पर तीन-चार लोग बैठे हुए दिखाई दिए। उनके कपड़े गंदे थे, चेहरे पर बेतरतीब ढंग से उगी हुई छोटी-छोटी दाढ़ी थी, आँखें कुछ नशीली सी दिखाई दे रही थीं। उनमें से एक व्यक्ति वायलिन बजा रहा था। उनकी चमड़ी का रंग मटमैला साँवला था। मैंने यह भी देखा कि पास से गुजरते लोग उनके पास कुछ सिक्के रखकर आगे बढ़ जाते थे।

मेरे साथ मेरा बड़ा पुत्र और पुत्रवधु थे, जो पिछले कुछ समय से कनाडा के इस नगर में आए हुए हैं। मैंने पूछा—“क्या ये लोग भिखमंगे हैं?” पुत्र ने कहा—“ये यहाँ के आदिवासी हैं, जिन्हें इंडियन कहा जाता है।”

फिर उसी ने बताया—“जो लोग हमें दिखाई दिए वे मादक पदार्थों के आदी हैं। नशीली दवाएँ पीना और सड़कों के किनारे खड़े होकर वायलिन बजाकर कुछ पैसे जमा करना इनका पेशा है।”

मैंने पूछा—“क्या सरकार इनके लिए कुछ नहीं करती?”

“सरकार इनके लिए बहुत कुछ करती है।” उसने बताया—“इन्हें बेकारी भत्ता मिलता है। अस्पतालों में इनका मुफ्त इलाज होता है लेकिन इनमें से कुछ लोगों के जीवन का यह ढंग बन गया है।”

पन्द्रहवीं-सोहलवीं सदी में जब यूरोप की अनेक साहसी जातियों ने संसार के नए-नए भागों की तलाश शुरू की, उनमें स्पेनी, पुर्तगाली, डच, अंग्रेज और फ्रांसीसी प्रमुख थे। ये लोग अपनी सरकारों की सहायता से संसार के अन्य भागों से व्यापार करने और वहाँ अपने उपनिवेश स्थापित करने के उद्देश्य से अपने छोटे-बड़े समुद्री जहाजों से फैलना शुरू हुए। जहाँ ये जातियाँ गई वहाँ की अपनी संस्कृति थी,

* डॉ. महीप सिंह जाने-माने लेखक एवं स्तंभकार हैं। संपर्क : एच-108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026, मो. 9313932888

राज्य-व्यवस्था थी, रहने-सहने का ढंग था। इनमें भारत जैसे विकसित देश भी थे और अमेरिका तथा अफ्रीका जैसे महाद्वीप भी थे जहाँ मनुष्य की प्राग-ऐतिहासिक जीवनशैली की प्रमुखता थी।

भारत जैसे देश में ये अपने उपनिवेश स्थापित करने में अवश्य सफल हुए। अंग्रेजों ने लगभग पूरे देश पर अपना शासन भी स्थापित कर लिया, किन्तु वे यहाँ की संस्कृति और जीवन-पद्धति पर गहरा निशान छोड़ने में अधिक सफल नहीं हुए। किन्तु उत्तर और दक्षिण अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड जैसे क्षेत्रों पर जब गोरी जातियों ने अपना अधिकार जमा लिया तो वहाँ के मूल निवासियों, उनकी संस्कृति, भाषा, जीवन-पद्धति को नष्ट करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। या तो उन्हें जंगलों और दूरस्थ भागों में खदेड़ दिया गया अथवा उन्हें दूसरे दर्जे का नागरिक बनाकर रखा गया और उनके साथ गुलामों जैसा व्यवहार किया गया।

लगभग यही स्थिति आज भी बनी हुई है।

शुक्रवार 3 अगस्त 1492 की प्रातः तीन छोटे जहाज जिनमें सबसे बड़ा कुल 60 फुट लम्बा था, स्पेन के पालोस बंदरगाह से चले। इस अभियान का नेता क्रिस्टोफर कोलम्बस था। यह मानवीय इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण यात्रा थी, जिसके माध्यम से आज संसार के सबसे समृद्ध देश अमेरिका की खोज हुई। दो महीने से अधिक की अनवरत और कष्टदायी यात्रा के पश्चात् उसे प्रकाश दिखाई दिया और अगली प्रातः कोलम्बस वेस्टइंडीज के एक द्वीप जिसे आज सान सलवेडर कहते हैं, अपने साथियों के साथ पहुँचा। इस प्रकार अमेरिका की खोज हो गई।

अमेरिका, कनाडा आदि के आदिवासियों को रेड इंडियन या इंडियन कहा जाता है। इन्हें यह नाम क्यों और कैसे मिला यह रहस्य है। मैंने यह पढ़ा था कि कोलम्बस स्पेन से भारत की खोज करने चला था, किन्तु वह अमेरिका पहुँच गया। उसने सोचा कि वह इंडिया पहुँच गया है, इसलिए उसने यहाँ के मूल निवासियों को इंडियन कहना प्रारम्भ कर दिया जिन्हें बाद में रेड इंडियन कहा जाने लगा।

यहाँ आकर मैंने कुछ पुस्तकें पढ़ी। इनमें कहीं मुझे इस बात का उल्लेख नहीं मिला।

यहाँ के इतिहासकारों का मत है ये इंडियन एशिया से यहाँ आकर बसे। जब कोलम्बस यहाँ आया, उससे कई शताब्दियाँ पहले ये लोग यहाँ आ गए थे। यहाँ उन्होंने विविध प्रकार की जीवन शैलियाँ और जीवन पद्धतियाँ विकसित कीं। उत्तर अमेरिका में इनके द्वारा तीन सौ से अधिक भाषाएँ बोली जाती थीं। उस समय शिकार करना और मछली पकड़ना ही इनका मुख्य कार्य था। यही इनका भोजन था। अनेक कबीलों में भैंसों का शिकार करना प्रचलित था।

सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में स्पेनी लोग यहाँ घोड़े लेकर आए। इससे पहले यह जीव यहाँ नहीं था और आदिवासी सारा काम पैदल ही करते थे। स्पेनी घोड़े पहले मैक्सिको में लाए गए फिर उत्तर की ओर उनका प्रसार होने लगा। घोड़ों के आ जाने

से इंडियन लोगों के जीवन में बड़ा परिवर्तन आ गया। अब वे घोड़ों पर चढ़कर जानवरों का शिकार करने लगे।

यूरोप की गोरी जातियों के आगमन से इनकी परम्परागत जीवन शैली में नई चीजें आ गईं। गोरे लोग अपने साथ अनेक धातुएँ, उनसे बने हुए बर्तन, कम्बल, ऊनी वस्त्र और हथियार ले आए। इसकी हिंसात्मक प्रतिक्रिया भी हुई। दोनों जातियों में लड़ाइयाँ भी होने लगी। उस समय तक यूरोप में बारूद का प्रयोग प्रारम्भ हो चुका था, और बन्दूक जैसे आग्नेय अस्त्रों का निर्माण होने लगा था। यहाँ के आदिवासियों पर गोरी जातियों ने इन अस्त्रों का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया, जिनके सामने इंडियन लोगों का टिकना बहुत कठिन हो गया।

इस नए संसार में अपनी बस्तियाँ स्थापित करने में स्पेनी और पुर्तगाली लोगों की पहल थी। सोलहवीं सदी के अंतिम वर्षों में ब्रितानी और फ्रांसीसी लोगों ने उन्हें चुनौती देनी प्रारम्भ कर दी। सन् 1603 और 1630 के बीच अंग्रेज, फ्रांसीसी और हालैंड निवासियों (डच) ने अमेरिका में अपनी पक्की बस्तियाँ स्थापित कर लीं।

कनाडा में अपने पैर जमाने का कार्य सबसे पहले फ्रांसीसियों ने किया। 1603 में कुछ फ्रांसीसी व्यापारियों ने फ्रांस के राजा से अनुमति लेकर एक कम्पनी स्थापित की। इस प्रयास का मुखिया सैमुएल डे चम्पलेन था। उसी के प्रयासों से क्यूबेक में फ्रांसीसी बस्ती स्थापित हुई। क्यूबेक आज कनाडा का फ्रांसीसी बोलने वाला एक प्रान्त है और सभी दृष्टियों से बहुत विकसित है।

इस बीच अमेरिका के बड़े भाग पर अंग्रेजों की प्रभुता स्थापित हो गई थी। उन्होंने उत्तर की ओर पैर पसारने शुरू किए और कनाडा के बड़े भू-भाग को अपने अधिकार में ले लिया। अपनी प्रभुता के लिए अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में लम्बे समय तक संघर्ष चलता रहा। इस संघर्ष में फ्रांसीसी धीरे-धीरे पराजित होते गए और सारा क्षेत्र अंग्रेजों की छत्र छाया में आ गया। आज संयुक्त राज्य अमेरिका एक स्वतन्त्र गणराज्य है, किन्तु कनाडा लम्बे समय तक ब्रिटिश साम्राज्य का भाग बना रहा।

1914 में कनाडा को 'डोमिनियन स्टेटस' प्राप्त हुआ। उस समय से वह ब्रिटिश साम्राज्य का उस अर्थ में एक भाग नहीं रहा, जैसा पहले था। कनाडा पूरी तरह स्वायत्त और स्वतन्त्र राष्ट्र मण्डल (कामनवेल्थ) का सदस्य बना रहा और औपचारिक रूप से ब्रिटेन के सम्राट या साम्राज्ञी के प्रति अपनी वफादारी से जुड़ा रहा। 15 अगस्त 1947 से 26 जनवरी 1950 तक जब तक गणराज्य की घोषणा नहीं की गई थी, भारत की भी यही स्थिति थी। संवैधानिक रूप से ब्रिटेन की महारानी आज भी इस देश की मुखिया है और कनाडा सरकार की सिफारिश पर वही इस देश के गवर्नर जनरल की नियुक्ति करती है। कनाडा के करेन्सी नोटों पर आज भी ब्रिटेन की महारानी की तस्वीर छपी होती है।

इस प्रकार वर्तमान कनाडा की रचना में तीन जातियों की मुख्य भूमिका है यहाँ के आदिवासी इंडियन, फ्रांसीसी और अंग्रेज।

पिछले सौ वर्ष में संसार के अनेक भागों से बड़ी संख्या में आप्रवासी भी इस देश में आकर बसे हैं। उन्होंने आर्थिक समृद्धि भी प्राप्त की है और देश की शासन व्यवस्था में अपनी सक्रिय भागीदारी स्थापित कर ली है। आप्रवासियों में चीनी सबसे अधिक हैं। उसके बाद भारतीय मूल के लोग हैं। श्रीलंका, पाकिस्तान, बंगलादेश, फिलीपीन्स, जापान, लेबनान, अफ्रीकी देशों से आए लोगों की गिनती निरन्तर बढ़ती जा रही है।

किन्तु इंडियन कहे जानेवाले लोगों का क्या हाल है? अनुमानतः पाँच प्रतिशत लोग इस वर्ग के हैं। इतनी संख्या के बावजूद यहाँ के राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में इनका कोई विशेष स्थान नहीं है। यदि कुछ है भी तो वह बहुत सकारात्मक नहीं है।

क्षेत्रफल की दृष्टि से कनाडा बहुत बड़ा देश है (भारत से पाँच गुना बड़ा) किन्तु आबादी की दृष्टि से वह भारत का पच्चीसवाँ भाग भी नहीं है। इस देश का विशाल उत्तरी भाग बहुत बर्फीला है जिसमें कहीं-कहीं यहाँ के आदिवासी अपने सदियों पुराने ढंग से रहते हैं, अन्यथा यह प्रदेश पूरी तरह निर्जन है।

अभी पिछले दिनों कुछ लोगों द्वारा यह प्रस्ताव लाया गया कि इस देश के सर्वोच्च न्यायालय के नौ जजों में से एक जज इन आदिवासियों में से होना चाहिए। यहाँ की बार एसोसिएशन की वार्षिक बैठक में यह प्रस्ताव लाया जाना था। किन्तु अन्तिम क्षणों में इसे स्थगित कर दिया गया। इस पर वकीलों में ही बहुत विवाद होने लगा। कुछ ने आपत्ति की कि यदि इस मांग को स्वीकार कर लिया गया तो अन्य अल्पसंख्यक समुदाय भी ऐसी ही मांग करेंगे।

इस समय सम्पूर्ण कनाडा में 20 आदिवासी जज हैं किन्तु इनमें से कोई भी 'आंटारियो कोर्ट ऑफ अपील' में नहीं बैठता। यहाँ की परम्परा यह है कि इस कचहरी में बैठने वाला जज ही सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनता है।

कनाडा की धरती पर आकर यह पता लगता है कि संस्कृतियाँ किस प्रकार मिटती हैं, किस प्रकार अपना रूप-रंग बदलती हैं, किस प्रकार वे बाहर से लाई गई संस्कृति में रंग कर अपना मूल रूप गवाँ बैठती हैं। आज उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के देशों पर यूरोपीय संस्कृति, भाषा, वेशभूषा, खान-पान और जीवन के आदर्श पूरी तरह छाए हुए हैं। संसार के विभिन्न भागों से गए हुए आप्रवासी अपनी सांस्कृतिक पहचान को बचाए रखने का कुछ प्रयास करते रहते हैं। उनके सामने भी सदैव यह प्रश्न झूलता रहता है कि क्या उनकी आनेवाली पीढ़ियाँ अपनी पहचान बनाए रख सकेंगी?

मैं नहीं जानता कि इस देश के आदिवासियों का बुद्धिजीवी वर्ग इस सम्बन्ध में क्या सोचता है? लगता यही है कि आनेवाले वर्षों में ये लोग भी यूरोपीय संस्कृति के रंग में रंग जाएँगे। इनकी पहचान केवल इनकी चमड़ी के रंग से ही हो सकेगी।

सीता की अग्नि-परीक्षा : एक विश्लेषण

रमानाथ त्रिपाठी*

सीता की परीक्षा के सम्बन्ध में विचारकों से पूछना चाहूँगा कि उनका दृष्टिकोण पारम्परिक आस्थावादी है या तर्कवादी। यदि आस्थावादी है तो फिर शंका-सन्देह और आक्षेप की गुंजाइश ही नहीं है। कड़ुवे वचन बोलते हुए राम ने सीता से कहा कि परीक्षा दिए बिना वे उन्हें स्वीकार नहीं कर सकते। सीता ने शपथ-पूर्वक अग्नि में प्रवेश किया और वे अक्षत रहीं। अग्नि देवता ने उनकी शुद्धता प्रमाणित की। कुबेर, यमराज, इन्द्र, वरुण, महादेव और ब्रह्मा तथा दशरथ भी वहाँ उपस्थित हुए। देवताओं ने कहा, "आप विष्णु हैं और सीता लक्ष्मी हैं। वे निर्दोष हैं।" राम ने कहा, "मैं जानता हूँ कि सीता इतनी तेजस्वी है कि रावण उसे छू भी नहीं सकता था। वह अपने तेज के कारण अग्नि में भी नहीं जल सकती।" इस प्रकार राम परम आश्वस्त थे कि सीता परीक्षा में अवश्य ही खरी उतरेगी। यह तो भगवान की लीला थी, वे मनुज-वत आचरण करते हुए सीता की दिव्यता का परिचय देना चाहते थे।

यदि आप तर्कवादी हैं तो केवल सीता की अग्नि-परीक्षा को पकड़कर क्यों बैठ गए। यदि आप विश्वास करते हैं कि सीता की अग्नि-परीक्षा हुई तो यह भी मानिए कि राम विष्णु और सीता लक्ष्मी हैं, साथ ही देवताओं और दशरथ की उपस्थिति को भी स्वीकार कीजिए। और यह भी मानिए कि राम के कहने पर इन्द्र ने मरे हुए वानरों की जीवित कर दिया।

यदि आप सच्चे तर्कवादी हैं तो सुनिए

1. वाल्मीकि रामायण में रामायणी कथा की चार संक्षिप्त सूचियाँ प्रस्तुत की गई हैं। तीन सूचियों में अग्नि-परीक्षा का बिलकुल ही उल्लेख नहीं है। अग्नि-परीक्षा साधारण घटना नहीं थी, फिर उसकी उपेक्षा क्यों हुई?

* डॉ. रमानाथ त्रिपाठी, जाने माने साहित्यकार एवं राम-कथा विशेषज्ञ। संपर्क : 26 वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली, 110034

2. वाल्मीकि-रामायण का मूलस्वर यह है कि राम महामानव हैं। वे विष्णु के समान बताए गए हैं, किन्तु विष्णु के अवतार नहीं। अतः अग्नि-परीक्षा वाला अंश तब जोड़ा गया जब उनके ब्रह्मत्व का प्रचार हुआ।

3. महाभारत के रामोपाख्यान और पुराणों में सीता की अग्नि-परीक्षा नहीं दिखाई गई।

4. अग्नि का धर्म है जलाना, कोई व्यक्ति कितना ही निर्दोष क्यों न हो अग्नि उसे जलाकर भस्म कर देगी। हाँ, यदि सीता देवी हैं तो बात और है। क्या तर्कवादी उनकी दिव्यता पर विश्वास करेंगे?

अब जो कुछ वर्णन है उसकी दिव्यता, अर्थात् विष्णु-लक्ष्मी वाली स्थिति को हटाकर विचार किया जाए। वाल्मीकि-रामायण का मूल स्वर यह है कि राम सीता को बहुत प्यार करते थे। उन्होंने लक्ष्मण से कहा था, जिसके बिना मैं एक मुहूर्त के लिए जीवित नहीं रह सकता वह मेरे प्राणों की सहचरी देवकन्या-सी सीता कहाँ है?

यां विना नोत्सहे वीर मुहूर्तमपि जीवितुम्

क्व सा प्राणसहाया मे सीता सुरसुतोपमा ॥ 3.58.4

उन्होंने सीता को प्राणैः प्रियतरा ममप्राणों से भी बढ़कर बताया है। सीता के वियोग में वे कीचड़ में फँसे हाथी के समान छटपटाए हैं पंकमासाद्य विपुलं सीदन्तमिव कुंजरम्। 3.61.13. ऐसी प्यारी सीता पर उन्होंने कभी सन्देह नहीं किया।

परीक्षा वाले प्रसंगों में यदि थोड़ी-सी भी सत्यता है तो विचार करना होगा कि सीता को इतना प्यार करने और उनकी शुद्धता पर विश्वास रखने पर भी उन्होंने सीता की परीक्षा क्यों ली। रामायण में बार-बार दिखाया गया है कि राम प्रजाजनों के हितैषी थे। लोकानां च हिते युक्तो 3.50.5. प्रकृतीनां हितैर्युक्तम् 1.1.20. कोई बात प्रजा के प्रतिकूल न होने पाए इसका ध्यान उन्हें सदा रहा। दण्डकारण्य के ऋषियों ने दुःखी होकर बताया था कि राक्षस किस प्रकार उन पर अत्याचार करते हैं। राम ने प्रतिज्ञा की थी कि वे राक्षसों को दण्डित करेंगे। सीता ने उन्हें रोका था कि वह व्यर्थ में राक्षसों से टक्कर न लें। तब उन्होंने कहा था कि प्रजाजनों की रक्षा के लिए वे सीता और लक्ष्मण को भी त्याग सकते हैं। प्रजाजनों का ही ध्यान रखकर उन्होंने अग्नि से कहा थालोगों को सीता की पवित्रता का विश्वास दिलाने के लिए परीक्षा अवश्य थी, अन्यथा लोग कहते कि राम मूर्ख और कामी है। सीता तो स्वयं अग्नि के समान प्रज्वलित हैं।

मैंने अपने 'रामगाथा' उपन्यास में सीता की अग्नि-परीक्षा का वर्णन इस प्रकार किया है कि उसमें वाल्मीकि-रामायण की सारी विशेषताओं का उपयोग करते हुए अपनी विशेषताएँ भी जोड़ दी हैं। इससे यह प्रसंग अधिक मार्मिक और विश्वसनीय हो गया है।

रावण वध के पश्चात् राम ने चाहा था कि सीता स्नान प्रसाधन कर उनके सामने उपस्थित हों। वे तो बिना नहाए ही राम के पास आने के लिए आतुर थीं। पति के आदेश का सम्मान कर जब उन्होंने नहा-धोकर उत्तम वस्त्र और अलंकार धारण किए तो भुवन-मोहिनी सीता अलौकिक सौन्दर्य से जगमगा उठीं। राक्षस और वानर इस अपूर्व सुन्दरी की झलक पाने के लिए उनकी पालकी के पास आने लगे। विभीषण के अनुचर बेंत मारकर उन्हें भगाने लगे। राम गरज कर बोले, “हमारे दुःख-सुख के साथी वानर सैनिकों पर प्रहार मत करो। सीता पालकी से उतरकर चलें ताकि सभी उन्हें देख सकें।” सीता के जगमगाते सौन्दर्य को देख राम स्वयं हतप्रभ रह गए। वे चिन्तित हुए कि यहाँ उपस्थित वानर, राक्षस तथा अयोध्या के प्रजाजन कैसे विश्वास करेंगे। ऐसी अभूत पूर्व सुन्दरी कामुक रावण की प्रमोद वाटिका में कई मास रही। क्या वह बेदाग रह सकी होगी। वे कठोर से कठोर मर्मवेधी वचन बोलकर सीता को उकसा रहे थे कि वे अपनी शुद्धता का प्रमाण दें, जिससे जनता उनकी पवित्रता पर विश्वास कर सके। सीता के मन को गहन आघात लगा। उन्होंने राम के आक्षेप का उपयुक्त उत्तर दिया। उन्होंने अग्नि में प्रवेश कर लांछित शरीर को त्याग देना चाहा। तभी समाज के लोगलंका-स्थित ब्राह्मण, राक्षस-राक्षसी, तथा हनुमान आदि वानरों ने सीता की पवित्रता की साक्षी दी। राम ने स्वीकार किया कि लोक-निन्दा के भय से तथा आलोचकों के मुँह बन्द करने के लिए उन्होंने ऐसा कठोर आचरण किया था। उन्होंने यह भी कहा था कि मुझे इसके चरित्र पर बिलकुल ही सन्देह नहीं है। मैं इसे स्वीकार तो तब करूँ जब यह मुझसे पृथक हो। जैसे सूर्य से उसकी प्रभा अलग नहीं की जा सकती उसी प्रकार यह मुझसे अभिन्न है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अग्नि परीक्षा प्रसंग या तो प्रक्षिप्त है या यह प्रतीकात्मक है। सीता को एक विषम परिस्थिति से गुजरना पड़ा, यह उनकी अग्नि परीक्षा थी। राम का सारा जीवन ही आदर्श महामानव या शासक का है। उन्होंने निरन्तर जनमत और जनहित को सम्मान दिया। इसके लिए वे अपने को और सीता को कष्ट में डालते रहे।

नारी

शंकर पुणतांबेकर*

मैं ग्वालियर या दिल्ली जा रहा था। रेल से श्री टायर में अकेला ही था। सुबह सोकर उठा तो देखा सामनेवाली बर्थों के यात्री पहले ही कहीं उतर गए हैं और बर्थों ने डे-टाइम शकल अख्तियार कर ली है। उन दिनों श्री टायर डे-टाइम में सभी मुसाफिरों के लिए खुले थे। सो मैंने पाया सामने की निचली बर्थ पर दो-चार नए मुसाफिर आ डटे हैं।

कोई नई बात नहीं थी। मैंने भी अपनी तरफ की बर्थों को डे-टाइम की शकल दी और सूटकेस में से साबुन-ब्रश आदि निकाले। लेवेटरी से फ्रेश होकर लौटा तो देखा सामने की बर्थ पर एक युवती आकर बैठ गई है।

वास्तव में इसमें भी कोई नई बात नहीं है। होनी भी नहीं चाहिए, मुझ-जैसे व्यक्ति के लिए तो कदापि नहीं जो चार बच्चों का बाप था और कथा-कहानियाँ नहीं व्यंग्य लिखता था।

मैं खिड़की के पास बैठ गया और बाहर का नजारा निहारने लगा। प्रकृति का प्रातःकालीन वह दृश्य सामान्य होते हुए भी इस मायने में विशेष था कि यह जैसे बीते हुए सुनहले पल हमारे सामने खोलकर रख रहा हो। ऐसे समय हम भावुक हो उठते हैं। उम्र का खयाल नहीं रह जाता।

युवती नाक-नक्श से अच्छी थी। वर्ण से उजली नहीं, साँवली भी नहीं। उसके साथ कोई नहीं था। अकेली ही थी। अच्छी बात है कि नारी अब अकेले यात्रा भी करने लगी है।

बाहर दूर धुँधलके से मुक्त होती खेतों की हरियाली मन को मोह लेती थी। कोई नई बात नहीं थी, तब भी मोह लेती थी। सामने की युवती में भी कोई नई बात नहीं थी, तब भी मन को मोह लेती थी।

ऐसे समय भी हम भावुक हो उठते हैं, नहीं? उम्र का खयाल नहीं रह जाता।

*जाने-माने ललित निबन्धकार; पता : श्यामा देवी नगर, जलगाँव-425002; मो. 09403159031

खेत पीछे खो गए। सामने दूर अब पहाड़ थानंगा पहाड़। ऊबड़-खाबड़ जमीन, नंगे-नंगे-से ही बदसूरत-से पेड़। सब कुछ रूखा-सूखा-सा। जिन्दगी की यात्रा में भी तो ऐसा ही होता हैकभी हरा-भरा कभी रूखा-सूखा। और गाड़ी जो है चलती रहती है।

युवती इस बीच उठकर फ्रेश हो आई थी। मुझे उसका चेहरा पहले से कहीं सुन्दर लगा और क्या बताऊँ, मैं बाहर देख रहा था और नहीं देख रहा था। बाहर रूखा-सूखा था और रूखा-सूखा नहीं था। पेड़ बदसूरत थे और नहीं थे। पहाड़ मुझे नंगा नहीं सूरज की बाल किरणों में नहाता लगा।

किस्सा-कहानी नहीं, कविता नहीं। सामान्य-से पल। तथापि किस्सा-कहानी भी, कविता भी।

इन सुनहले पलों को यदि मैं कविता कहूँ तो क्या इसके शब्द हैं?

पर क्या शब्दों से ही कविता बनती है? शब्दों से कविता बनती है तो एटम बम भी बनता है। किस्सा-कहानी भी नायक-नायिका से नहीं बनते। मुझ-जैसा रूखा-सूखा चरित्र भी उसमें हो सकता हैसुनहले नहीं, कँटीले पलों के साथ। पर ये पल या तो विचारों की किरणों में नहाते होते हैं या किसी श्रद्धा की दृश्य-अदृश्य परछाई का अहसास अपने में सँजोये रहते हैं।

श्रद्धा की दृश्य-अदृश्य परछाई का अहसास! यह जिन्दगी को कितना मधुर बना देता है।

मेरा हाथ दाढ़ी पर जाता है। सोचा था दाढ़ी मुकाम पर पहुँचने पर ही बनाऊँगा। पर अब विचार बदल दिया। सूटकेस में से दाढ़ी का सामान निकाला और दरवाजे के पास के नल की तरफ बढ़ा। लौटकर मैंने शर्ट भी बदल डाला। मेरा अचेतन मन नहीं चाहता था कि मैं 'बदकमीज' लगूँ।

किसी बाबू का सुनाया हुआ वाकया याद आया। बाबू का ऑफिस छोटा ही थाआठ-दस कर्मचारियों का। एक दिन इनमें एक युवती आ जुड़ी। इसके पूर्व यहाँ कोई भी महिला कर्मचारी नहीं थी।

बाबू ने बतायाऑफिस में इस नई बढोत्तरी के साथ जैसे क्रांतिकारी हचलच पैदा हो गई। अब कपड़े, आचरण, भाषा आदि के बारे में 'कुछ भी - कैसा भी' नहीं रहा, सबमें चुस्ती आ गई।

होता है, ऐसा होता है। हमारे तौर-तरीके कहे कि संस्कार के केन्द्र में जहाँ बड़े-बूढ़े हैं, वहाँ नारी भी। नारी बल्कि इस बावत हमें अधिक जागरूक बनाती है।

नारी माँ है, बहन है, पत्नी है, बेटी है। इसके अलावा भी है, भाभी है, मामी है, सास है आदि आदि। पर हमारे लिए नारी इनमें से कोई नहीं है। हमारे लिए नारी वह है जो प्रेरक हैमोहक है, कहे कि पराई है। कैसी अजीब बात कि नारी जो हमारे

पाले की है वह हमारी केवल जिन्दगी है, दूसरे पाले की सपना। और हम सपना न जिएँ तो जिन्दगी कैसी रूखी-रूखी हो जाए।

यहाँ सपने का अर्थ वह नहीं है जो फिल्मों में दिखाया जाता है। वह भी नहीं जो यथार्थ से परे कुछ है। सपने का अर्थ है सरसता। कुछ-कुछ रंग, कुछ-कुछ गन्ध, कुछ-कुछ कोमलता। हाईस्कूल में पढ़ता था तब की बात है। पाँचवीं-छठी के एक लड़के की ट्यूशन के लिए उसके घर जाता था। शाम पाँच-छह बजे पहुँचने पर दरवाजे पर दस्तक देता। यह घड़ी मेरे लिए बड़ी रोमांचकारी होती। इसलिए कि एक-दो बार दरवाजा लड़के ने नहीं लड़के की बहन ने खोला था। बहन ने जो 14 या 15 की उम्र की होगी। दरवाजा खुलने तक के पूरे-के-पूरे क्षण अपनी समस्त उत्कटता के साथ मानस में मधुकण उड़लते रहते।

माना कि वह मेरी भावुकता-भरी उम्र थी। पर नारी के मामले में पुरुष की भावुकता अपने सफेद बालों को भी नहीं जु मानती। और इसमें कोई बुराई भी नहीं है। भावुकता अपने आपमें अशिष्टता नहीं है।

लड़की दरवाजा खोलती है और उसे देख मैं आह भरता हूँ, यह अशिष्टता है। और रोजमर्रा की जिन्दगी में यह तो सामान्य बात है कि लड़की या युवती दरवाजा खोलती है, पर आह भरना नहीं।

आह की बात छोड़ दूँ। लड़की दरवाजा खोलती है और उसे देख मैं स्मित करता हूँ। कोई भी नहीं कहेगा कि इस स्मित में भद्दापन है। इस स्मित में धन्यवाद का भाव है। लड़की भी स्मित करती है तो इसमें उसका स्वागत का भाव है। यह जिन्दगी को कैसा सरस बना देता है।

भावुकता कह लें या नादानी, ये क्षण कितने रोमांचकारी होते हैं।

लड़की दरवाजा खोलती है इस अहसास ने मुझे अपने कपड़ों के प्रति सतर्क बना दिया था। अपने आप में तो खैर मैं जो था सो था, हॉ 'स्टाइल' मैं बहुत कुछ बदल गया। लड़के को पढ़ाते समय लगता लड़की वहीं कहीं आस-पास है और मुझे पढ़ाते हुए देख रही है। और यह अहसास उन पूरे क्षणों को एक विशिष्ट गन्ध से भर देता। इसे मैं नारी-गन्ध कहूँ तो भद्दापन न कहा जाए।

मैं इस पूरे अहसास में से भावुकता घटा देता हूँ। आप देखेंगे कि अहसास की तरलता तब भी शेष है।

संस्कृति हमारे आचरण की गन्ध, रंग और कोमलता है।

आचरण की गन्ध श्रद्धा में है। श्रद्धा वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध के प्रति। माता-पिता, गुरु, साधुजन के सम्मुख हम नतमस्तक हो जाते हैं। बल्कि कहें कि ये सभी ऐसे कि हम इनके लिए नतमस्तक हो उठते हैं। इन्होंने हम में श्रद्धा नामी-आचरण की गन्ध पैदा की।

इस श्रद्धा को हम भावुकता कहकर दुत्कार दें तो हमारा मस्तिष्क कागज का फूल बना रह जाएगा।

श्रद्धा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह अन्धी होती है।

हाँ अन्धी होती है। क्या आज की दौड़ अन्धी नहीं हैपैसे की दौड़, सत्ता की दौड़, पाशचात्य की दौड़? श्रद्धा पुरातन है, सो उसे अंधी कह लो, दौड़ आधुनिक है सो उसे अन्धी मत कहो।

श्रद्धा अन्धी है उन लोगों के लिए जो अन्धी दौड़ दौड़ रहे हैं। और जानते हैं? अन्धी श्रद्धा ने दुनिया को जितनी हानि नहीं पहुँचाई है, उससे कई गुना हानि अन्धी दौड़ ने पहुँचाई है।

श्रद्धा की अवहेलना कि हमारे आचरण के गन्ध नहीं रह गई है। इस अर्थ के युग में हम हर चीज तराजू से तौलने लगे हैं। तभी नॉलेज से, टेकनिकज्ञान से, युक्ति मूल्यवान है।

जहाँ आचरण की गन्ध श्रद्धा की उपज है वहाँ आचरण का रंग-रूप उसकी कोमलता-तरलता की उपज है। तरलता नारी के प्रति, बच्चों के प्रति, कमजोरों के प्रति। यहाँ शृंगार है, वात्सल्य है, करुणा है। शृंगार अधिक तरल होता है। श्रद्धा में हम नतमस्तक तो तरलता में नतहृदय। और यही दशा हमारे आचरण में मर्यादा, मृदुता, सुष्ठुता लाती है। रंग-रूप, कोमलता।

श्रद्धा संस्कृति का स्वत्व होती है तो तरलता 'स्टाइल'। एक का आलम्बन गुरुजन तो दूसरे का नारी।

कला की प्रेरकशक्ति प्रकृति हो पर उसके विकास के केन्द्र में नारी है। कला में प्रकृति नारी से मंडित हुई तो नारी प्रकृति से। दोनों का ही सौन्दर्य मुग्धकारी। प्रकृति और नारी की सृष्टि के बाद विधाता के हाथों तीसरा सौन्दर्य नहीं रचा जा सका। सौन्दर्य रचने में कवि और कलाकार विधाता से बहुत आगे निकल गए हैं। अन्तरंग सौन्दर्य का विधान तो कवि और कलाकार की ही देन है। विधाता के रचे प्रकृति और नारी-सौन्दर्य को विविधता कूची और लेखनी ने ही प्रदान की है। अमरता भी।

विधाता अपनी शकुन्तला कालिदास की शकुन्तला में देखकर विस्मित हो उठा होगा। मेरी शकुन्तला को कवि ने चार चाँद लगा दिए। फिर मेरी शकुन्तला को जन-जन तक, युग-युग तक कवि ने ही पहुँचाया।

हमारे साहित्य में सीता, द्रौपदी क्या ऐसी ही नारियाँ नहीं हैं? यहाँ नारी पुरुष की वह प्रेरणा है जो उसे संकोच से विस्तार की ओर अग्रसर करती है। स्वार्थ से परार्थ की ओर। यहाँ नारी के पीछे पुरुष की आह नहीं है, अपने-आपको राख कर देना नहीं है कि प्रेमिका के कूचे की धूल बने। पूरी शैरो-शायरी इसी प्रकार की बेवकूफियों से

भरी हुई है। यह सामन्तशाही की देन है जिसमें नारी 'तू चीज बड़ी है मस्त-मस्त' बनी रह गई है। शायर भी 'पतली कमर है, तिरछी नजर है' में फँसा रह गया है।

नारी ने लम्बी कलायात्रा की है। वह कल्पना और भावलोक से चलकर अब विचारलोक में आई है। वह आज भगवतीचरण वर्मा की चित्रलेखा है या प्रेमचन्द की मालती। जैनेन्द्र कितने चिन्तनशील लेखक, पर उनका समस्त चिन्तन नारी के खूँटे-से बँधा रह गया। हिन्दी नवकथाकारों में भी यही प्रवृत्ति देखी जाती है जिन्होंने नारी-मुक्ति को काम-मुक्ति में केन्द्रित कर दिया। यथार्थ चित्रण के नाम नारी की मांसलता में भाषा खराब की और अपनी हीन रुचि का परिचय दिया।

जैनेन्द्र की कामुक परम्परा से अच्छे-अच्छे लेखक नहीं छूटे। धर्मवीर भारती-जैसे लेखक भी जिन्होंने 'अन्धायुग' जैसा विचार-प्रवर्तक काव्य-नाट्य दिया। भारती का 'गुनाहों का देवता' अत्यन्त हीन अभिरुचि की औपन्यासिक कथाकृति है। इसका कथा-नायक चन्द्र है जो सुधा, पम्मी, बिनती और गेस् नामी चार-चार युवतियों के साथ प्रेम के नाम वासना का खिलवाड़ करता है। वैसे लेखक ने चन्द्र के चरित्र को महिमा-मंडित करने के प्रयास में उसे समाजवादी और आदर्शवादी बताया है। पर पूरा उपन्यास वासना की दुर्गन्ध से इतना भरा हुआ है कि वाद की गन्ध उसमें घुटकर मर जाती है। अज्ञेय का 'नदी के द्वीप' ऐसी ही सड़ान्ध लिए हुए है। आश्चर्य इस बात का होता है कि 'गुनाहों का देवता' के संस्करण आज 35 वर्ष के बाद भी निकल रहे हैं। वह साहित्यिक कृति नहीं है, तब भी साहित्यिक लोग उसकी भर्त्सना के लिए क्यों नहीं चर्चा करते हैं? 'नदी के द्वीप' तो विश्वविद्यालयों द्वारा कोर्स में निर्धारित होता है।

जैनेन्द्र, अज्ञेय, भारती और इलाचन्द्र जोशी जैसे लेखकों में फ्रायड का यह मनोविज्ञान सही उतरता है कि हमारी अधूरी वासनाएँ एक ओर स्वप्न में अपना जोर दिखाती हैं तो दूसरी ओर कला में।

बहुत-कुछ है नारी को लेकर वर्तमान साहित्य पर लिखने के लिए। इसमें मृदुला गर्ग-जैसी लेखिका को भी कटघरे में खड़ा किया जा सकता है। पर यहाँ यह मेरा विषय नहीं है।

नारी को इधर का लेखक भाव और कल्पना से निकालकर विचार के क्षेत्र में लाया तो है, पर ये विचार सेक्स से अधिक जुड़े हैं। उसने नारी को जरूरत से ज्यादा पाश्चात्य बना दिया है।

हमारे यहाँ एक बड़े नामी चित्रकार हैं एम.एफ. हुसैन। नब्बे साल के बूढ़े, पर स्वैण। पागल लोग इनके चित्र की कीमत करोड़ों में चुकाते हैं। ये चित्रकार महोदय नारी को, इतना ही नहीं हिन्दुओं की पूज्य देवियों को नंगा चित्रित करने में किसी तरह की निर्लज्जता का अनुभव नहीं करते।

कितने लोग हैं जिन्होंने कला को ठीक-ठीक समझा है? कितने लोग जानते हैं, हुसैन जैसे चित्रकार भी, कि कला प्रतिसृष्टि है, कल्पना के माध्यम से भावों की ही नहीं विचारों की भी। विचार जितने ध्वनित उतनी कला ऊँची। इस प्रतिसृष्टि की प्रक्रिया में कहना न होगा कलाकार के संस्कार या विकार समाए रहते हैं। नारी को नंगा संस्कार वाला नहीं विकार वाला ही चित्रित करेगा। खरीदेगा भी विकारग्रस्त।

यात्रा के दौरान का ही एक और प्रसंग। शायद बनारस से लौट रहा था। गाड़ी के इन्तजार में मुगलसराय का प्रतीक्षालय। अचानक निगाह एक गोरी-गोरी युवती की ओर गई जो ऊपर से लेकर नीचे तक काले बुरके में थी। हाँ, मुँह खुला था। गोरी थी, तरुण भी थी पर निस्तेज। चार-पाँच छोटे-छोटे बच्चे थे उसके, इस कारण निस्तेज। एक बच्चे को तो वह गोद में ही लिये हुए थी और उसे स्तनपान करा रही थी। अवश्य ही यह नारी अपने पति के साथ होगी जो इधर-उधर कहीं घूम रहा होगा।

युवती सुन्दर भी थी। पर इसे देख मुझमें कोई सुनहले पल नहीं जागे। भावुक भी मैं नहीं हो उठा। ऐसा भी नहीं हुआ कि उम्र का ख्याल नहीं रह गया।

क्या बताऊँ, इस युवती को देख मुझमें करुणा जागी। किसी में भी जाग सकती थी, और बिना भावुक हुए।

मैं सोचने लगा यह युवती भी कभी शृंगार रस थी, आज करुण रस है। हमारे यहाँ नारी की यात्रा शृंगार से करुण रस की ओर ही अधिक दीख पड़ती है। पति हो तो करुणा जैसी यह नारी, पति न हो तो करुण जैसी कोई विधवा नारी। जिस पति के कारण करुण वह पति प्राप्त ही न हो पाए तो करुण।

मुझे बुरके वाली के पति पर गुस्सा आया। यह अपनी ही औरत का शोषक है। कल यह औरत यदि मर गई तो वह और औरत कर लेगा। बिना सोचे हुए कि वह देश की लोक-संख्या और बेरोजगारी बढ़ा रहा है आगे और भी सन्तान पैदा करेगा।

औरतबाज यह मर्द कभी नहीं सोचता कि जिस औरत का वह पति है उसका भी मन है, उसकी भी इच्छा-आकांक्षाएँ हैं। वह उसे बुरके के बाहर नहीं आने देना चाहता।

अधिकांश मर्द ऐसे ही मर्द होते हैं। वे औरत को अपनी चारदीवारी के बाहर नहीं आने देना चाहते। चारदीवारी के बाहर ही नहीं चारविचारी के बाहर भी। पढ़ी-लिखी औरत को भी। उस औरत को भी जो अब उसकी धर्मपत्नी नहीं अर्थपत्नी है।

नारी जहाँ संस्कृति, कला है वहाँ वह धर्म भी है। वह धर्म जो दुनिया के बड़े-से-बड़े धर्म से बढ़कर धर्म है, जिसे मैं परिवार कहता हूँ। परिवार पुरुष से चलता हो, पर नारी से वह जिन्दा है।

नारी को अबला कहा गया हो, पर पुरुष के अभाव में नारी परिवार में पुरुष की भूमिका का निर्वाह कर लेती है, किन्तु नारी के अभाव में पुरुष नारी की भूमिका नहीं निभा पाता। पुरुष का अर्थ केवल अर्थ है, पर नारी की ममता का अर्थ क्या-क्या नहीं है!

परिवार-धर्म टूटता है तो समाज टूटता है। संस्कृति टूटती है। और दुख की बात है कि अर्थ की दौड़ में आज यह हो रहा है। तथा परिवार को लेकर बात करनेवालों को पुरातनपन्थी कहा जाता है। जो अपने को आधुनिक कहते हैं उन्होंने नारी की समस्या को क्या कभी समझा है, दहेज-जैसी ज्वलन्त समस्याओं को? आधुनिकता ने तो नारी को विकास के नाम फिल्मों-विज्ञापनों में अर्धनग्न बना दिया है।

अन्त में एक-दो बातें और।

नारी अपने-आप में चेतना है। मैं एक ढाबे में खाना खाता था। कभी नौकर परोसता तो कभी खाना बनानेवाली ढाबे की बूढ़ी मालकिन। नौकर परोसता तो मेरा समस्त चेतन जड़ हो जाता, और बुढ़िया परोसती तो समस्त जड़ चेतन हो उठता।

नारी अपने-आप में अनोखी शक्ति है। कहीं पढ़ा था आश्रम के स्वामी को अपने चेलों में से अपना उत्तराधिकारी चुनना था। किसे चुनें? वह उनकी परीक्षा लेना चाहता था। कैसे ले? आखिर स्वामी को सलाह देने वाला 'गुरु' मिल गया, आश्रम के बाहर का चेला। 'गुरु' ने स्वामी को चेलों में चलाने के लिए शराब लाकर दी। पर एक-एक चेला इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया। इसके बाद स्वामी ने 'गुरु' की ही लाई हुई पूँजी की थैली चलाई और इसके बाद सत्ता की कुर्सी। शराब, पूँजी और सत्ता ही तो हैं जो आदमी को गिराते हैं।

जब आश्रम के चेले पूँजी और सत्ता की परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गए तो अन्त में 'गुरु' स्वामी के पास एक नारी ले आया। बोला, महाराज, इस बार एक-एक चेला ढेर हो जाएगा, और फिर आपको मुझ-जैसे किसी को ही अपना उत्तराधिकारी बनाना होगा।...लेकिन इस बार हुआ कुछ और ही। स्वामी ने नारी को चेलों में चलाया ही नहीं। उसे अपने ही कक्ष में रख लिया।

ऐसी है नारी की शक्ति!

पत्रकारिता में नैतिकता के पुरोधपोदार जी

ब्रजलाल उनियाल*

भारत के प्राचीन वाङ्मय में त्याग और तपस्या के अनेक कल्पनातीत उदाहरण मिलते हैं। महर्षि दधीचि द्वारा अपनी देह का त्याग अद्भुत उदाहरण है। यह तो हुई बात प्राचीन काल की परन्तु भारत में त्याग की यह परम्परा अभी तक जीवित है। इसी बीसवीं सदी में, तत्कालीन सर्वोच्च सम्मान (नाइटहुड 'सर') को विश्व कवि रवीन्द्र नाथ टैगोर ने इसलिए टुकराया कि वे नृशंस शासकों द्वारा किए गए 'जलियांवाला काण्ड' के विरोध में उसे स्वीकार नहीं कर सकते। दूसरा उदाहरण भी इसी सदी का है। जिस सर्वोच्च सम्मान 'भारतरत्न' के लिए अनेक वर्षों से जद्दोजहद व तर्क पेश किए जाते रहे हैं, उसे भाई हनुमान प्रसाद पोद्दारजी ने विनम्रतापूर्वक अस्वीकार किया। उन्हें अंग्रेज कमिश्नर, मि. होबर्ट ने "राय बहादुर" की उपाधि देनी चाही, उन्होंने उसे भी अस्वीकार कर दिया था।

देश की स्वाधीनता के बाद, डॉ. सम्पूर्णानंद तथा श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी आदि के परामर्श से श्री गोविन्द बल्लभ पन्त ने भाई पोद्दार को 'भारत रत्न' उपाधि से अलंकृत करने के लिए लिखा, किन्तु भाई जी ने बहुत विनम्रतापूर्वक लिखा : "मैं उपाधि की व्याधि" से मुक्त रहने का संकल्प कर चुका हूँ। इसलिए कृपया मेरे संकल्प में बाधा न डालें।"

श्री हनुमान प्रसाद जी का जन्म राजस्थान के रतनगढ़ नगर में लाला भीमराज अग्रवाल के घर 17 सितम्बर 1892 को हुआ। इनके माता-पिता हनुमान जी के अनन्य भक्त थे। इसीलिए उन्होंने अपने बालक का नाम "हनुमान प्रसाद" रखा। इनकी माता इन्हें केवल दो बरस का छोड़ स्वर्ग सिधारीं। इनका लालन-पालन इनकी

* ब्रजलाल उनियाल, पूर्व सम्पादक 'खेती', 'वर्णिका', कांग्रेस शती स्मृति अंक 1985; 'श्री हरिकथा' के सह-सम्पादक (विशेषांक : प्रभुदत्त ब्रह्माचारी, देवराहा बाबा, भाई हनुमानप्रसाद पोद्दार)।

**सम्पर्क : 23/204 ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट्स, दिल्ली 110096।

दादी ने किया। बचपन से ही इन्हें रामायण, गीता तथा श्रीमद्भागवत की कथाएँ सुनाई गईं। अद्भुत बात तो यह थी कि एक सन्त ने इन्हें बचपन से ही पूरी गीता कण्ठस्थ करा डाली। कालान्तर में इस अध्यवसायी बालक ने हिन्दी, संस्कृत का गहन अध्ययन किया और वे अनेक ग्रन्थों के पारंगत विद्वान बन गए। उन्होंने अंग्रेजी का भी अध्ययन किया। उनके अंग्रेजी के अध्यापक थे : श्री अयोध्या नाथ। उनका बंगला पर भी अच्छा अधिकार था और वे पंजाबी भी अच्छी जानते थे। उन्होंने गुजराती व मराठी भी सीखी थी। इस प्रकार वे अध्यवसायी बहुभाषाविद् तो बने ही, साथ ही भारी विद्वान भी बन गए।

हनुमान प्रसाद पोद्दार “भाई जी” कैसे बने, इसकी भी रोचक घटना है। काशी विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक श्री जीवनशंकर याज्ञिक इनके मौसरे भाई श्रीलाल याज्ञिक पोद्दार जी के गहरे दोस्त थे, जो भी लोग पोद्दार जी के बारे में पूछने आते उनको प्रायः भाई जी कहकर बताया जाता। लोग तब से उन्हें भाई जी कहने लगे।

श्री जय दयाल गोयनका गीता के अनन्य भक्त थे। उन्होंने गोरखपुर में 1922 में ‘गीता प्रेस’ की स्थापना की। भाई जी जब कलकत्ता में क्रान्तिकारी गतिविधियों के आरोप में नजरबन्द रहे तभी से उन्हें गीता तथा धर्मग्रन्थों के प्रचार की प्रेरणा मिली। तभी उन्होंने गोयनका जी को सहयोगी के रूप में समर्पित किया। सेठ घनश्यामदास विड़ला जी के परामर्श से प्रकाशक कृष्णादास जी ने ‘कल्याण’ के प्रकाशन की योजना बनाई और 1935 में ‘कल्याण’ का प्रवेशांक निकला जिसमें महात्मा गाँधी का भी लेख था। उन्होंने माना कि उनका बापू से निकट सम्पर्क रहा है और वे उनकी सत्यनिष्ठा, अनासक्ति व सादगी से प्रभावित हुए।

भाई जी पुरानी पीढ़ी के मिशनरी सम्पादक थे। उन्होंने देश भर के उच्च कोटि के विद्वानों, धर्माचार्यों, सन्तों, लेखकों से बड़े अनुरोध के साथ लेख लिखवाकर ‘कल्याण’ में प्रकाशित किए। उनका उद्देश्य समाज को सद् विचारों से प्रेरित करना था। वे इस बात का ध्यान रखते थे कि रचनाएँ प्रामाणिक और तथ्यात्मक हों। वे प्रतिदिन लगभग 18 घण्टे काम करते थे।

भाई जी ने निबन्ध, समाजसुधार सम्बन्धित प्रेरक लेख, साधना-साहित्य, भक्ति साहित्य, उद्बोधक साहित्य आदि पर 25 हजार से भी ज्यादा पृष्ठ लिखे। आध्यात्मिक मासिक ‘कल्याण’ की ग्राहक संख्या देश में अपने विषय के पत्रों में सबसे ज्यादा है। गाँधी जी के सुझाव पर इसमें कोई व्यावसायिक विज्ञापन नहीं दिए जाते। इतने विशेषांक ‘कल्याण’ ने प्रकाशित किए हैं कि इन्हें विषय-विशेष का कोश कहा जाता है। वैदिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से उन्होंने चारों धर्मों में ‘वेद-भवन’ स्थापित करने की योजना बनाई। उन्होंने कल्याण के माध्यम से रामचरितमानस, गीता, भागवत, महाभारत, पुराणों, आर्य-ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवाद

व टीकाएँ दुनिया भर के श्रद्धालुओं तक पहुँचाया। कुछ विद्वानों ने तो इन्हें बीसवीं सदी का “वेदव्यास” बताया है। श्री हरिवंशराय बच्चन ने भाई जी द्वारा रचित साहित्य की विपुलता तथा श्रेष्ठता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

भाई जी जैसे कर्मयोगी, साधक व समाजसेवी व्यक्ति ने 78 वर्ष की आयु में सन् 1970 में “मेरा वसीयतनामा” में लिखा था : “यही अतुल सम्पत्ति है और यह इतनी विशाल है कि असंख्य लोगों के ग्रहण किए जाने पर भी यह कम नहीं होगी...मेरे पास अपने न तो पैसा ही जमा है...न कहीं से कोई आमदनी है...अब सम्पत्ति के रूप में मेरे कुछ विचार मात्र हैं... ये सर्वसाधारण में, पब्लिक में प्रचार के लिए नहीं हैं, परिवार में, घर में तथा निकट सम्पर्क में जो लोग हैं इन्हें समझकर अपना लें, यही निवेदन है।”

भारत सरकार ने 23 सितम्बर 1992 को भाईजी की स्मृति में डाक-टिकट जारी किया था। अपने निधन से कुछ समय पूर्व जब उन्हें अनेक व्याधियों ने अपनी चपेट में लिया तो उन्होंने लिखा था : “शरीर में भीतर कष्ट है पर अन्दर ही अन्दर मुझे बड़ा आनन्द है। पीड़ा के रूप में मुझे भगवान के साक्षात् सम्पर्क की अनुभूति हो रही है।” संसार के असंख्य लोगों में ऐसे कितने लोग होंगे जो कि मरणासन्न भय और कष्ट से विरक्त ऐसी घोषणा कर सकते हैं?

एक अज्ञात शायर ने ऐसे पुरुष-पुंगव के बारे में कहा है :

बाद मुद्दत के हुआ था कोई उन सा पैदा।

हाय! फिर रह गया आगोशेवियावां खाली॥

प्रस्तुत लेख इस बात का साक्षी है कि 90 वर्ष की आयु में भी लेखक की श्री ब्रजलाल उनियाल की ‘रचनाधर्मिता’ ने दम नहीं तोड़ा है।

सम्पादक

अगाध अज्ञेय का सम्पादक रूप*

शंकरण शरण**

एक सुख है सब बाँटने में
एक सुख सब जुगोने में,
जहाँ दोनों एक हो जाएँ
एक सुख है वहाँ होने में...

(अज्ञेय)

आधुनिक भारतीय साहित्य में अज्ञेय को रवीन्द्रनाथ टैगोर के बाद सबसे बड़ी हस्ती बताया गया है। पर इस तथ्य का पूरा आयाम समझना, अर्थात् अज्ञेय के शब्द और कर्म की पूरी माप, आसान नहीं। समकालीन भारत में शब्द और भाषा के प्रयोग के प्रति अज्ञेय से अधिक सावधान कवि या लेखक ढूँढ़ पाना कठिन है। और उन्हीं ने स्वयं लिखा, 'शब्दों में मेरी समाई नहीं होगी...।' इस कथन का गूढार्थ वही महसूस कर सकते हैं, जो लम्बे समय से अज्ञेय के साथ रहे हों अर्थात्, अज्ञेय के लेखन को नियमित पढ़ते-गुनते रहे हों।

सूचना-प्रकाशन-संचार सम्बन्धी तकनीकी क्रान्ति के ऐसे काल में जब नित्य हजारों, लाखों शब्दों की सामग्री शिक्षित दुनिया को मिलती रहती है, और हिन्दी पाठक इसमें शामिल है, ऐसे काल में भी ऐसा लेखन बहुत कम मिलता है जिसे पढ़कर कोई ठिठक जाए। रोज आने वाली सामग्री में कोई पूरा विवरण, लेख या कविता तो क्या, उनमें कहीं कोई पाराग्राफ या चार पंक्तियाँ तक कभी-कभार मिलती हैं जिसे पढ़कर फिर पढ़ने का जी चाहे; उसका अर्थ रखने, सहेजने की चाह पैदा

* प्रो. रमेशचन्द्र शाह पत्रकारिता के युग-निर्माता : स.ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' (दिल्ली : प्रभात प्रकाशन, 2010), पृ. 120, मूल्य 150 रु.

**IV/ 44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, श्री अरविदो मार्ग, नई दिल्ली 110016

हो। इस अभावग्रस्त स्थिति में अज्ञेय, चाहे उनकी वह कविता हो या लेख, व्याख्यान, एकदम अलग प्रतीत होते हैं। देश-विदेश की केवल चुनी हुई, गम्भीर चीजें ही पढ़ने वाले सुधी भी अज्ञेय की लिखी अनेक पंक्तियों की थाह एक बार में नहीं ले पाते। कई बार तो बार-बार पढ़कर भी नहीं। कारण यह नहीं कि अज्ञेय की कही बातें दुरुह हैं। बात बल्कि निपट उल्टी है। वह सीधे हृदय में उतरती है। बड़े विद्वान और साधारण पढ़े-लिखे संवेदी, दोनों में। थाह न पाने का कारण दूसरा है। वह यह कि उसमें भाव, अर्थ और सन्देशों की परते हैं जो समय के साथ बार-बार देखने पर नए-नए रूप में खुलती रहती हैं। अज्ञेय लिखित वही कविता, या उसकी कुछ पंक्तियाँ, किसी लेख का वही पाराग्राफ जिसे पहली, दूसरी बार पढ़कर आगे बढ़ गए थे, किसी बार यकायक उसमें चमकता हुआ नया सत्य दीख जाता है! अरे! इन पंक्तियों को तो कई बार पढ़ा था, इसका यह सीधा, खरा सन्देश पहले चिन्हित करने लायक क्यों नहीं लगा था! ऐसे आह्लादकारी, गुँगे के गुड़ जैसे अनुभव अज्ञेय के लेखन पर समय देने वाले कई सुधी जनों को हुए होंगे। यह उन विशेष समायोजित शब्दों की शक्ति तो है ही, जिनके माध्यम से कवि ने कुछ देना चाहा था; पर साथ ही उस रचयिता के भाव-चिन्तन-जगत की गहराई भी है जिसे पाठक महसूस करते हैं। इसीलिए बार-बार उसमें वह खोजने का प्रयास करते हैं जिसका आभास होता है, पर पूरी तरह ग्राही में नहीं समाता।

निस्संदेह, अज्ञेय का लगभग सम्पूर्ण वाङ्मय एक शास्त्रीय लेखन है, क्लासिक, जिसमें किसी संवेदी पाठक को निरन्तर कोई निधि मिलती रह सकती है। इसीलिए अज्ञेय पर लिखने वाले विद्वानों, दार्शनिकों और सामान्य पाठकों तक के लेखों में कम ही चीज मिलती-जुलती आती है। उदाहरण के लिए, रमेशचंद्र शाह जी द्वारा संपादित *पूर्वग्रह* (अंक 131-32) के अज्ञेय-केन्द्रित विशेषांक में आप यह देख सकते हैं। इसमें चौबीस लेखकों, कवियों, चिन्तकों, पाठकों आदि के लेख, विश्लेषण, संस्मरण आदि हैं। उनमें कुछ को छोड़कर सभी बड़े-बड़े लेखक, सम्पादक, विचारक हैं। लगभग दो सौ पृष्ठों की इस पूरी सामग्री को एक-एक कर उलटते चलें तो उनमें जगह-जगह उद्धृत अज्ञेय के विचारों या कविताओं के उद्धरणों में बहुत कम समानता दिखती है।

ऐसा क्यों है? क्योंकि सबको अज्ञेय में अपनी-अपनी निधि, अपना-अपना प्रकाश, अपना-अपना मूल्य मिला है। *असाध्य वीणा* के श्रोताओं की तरह सबको उनमें कुछ न कुछ अलग, अनोखा, अपूर्व स्वर सुनाई पड़ता है। कहीं तो अज्ञेय का लेखन चिन्तन, कला, ज्ञान और विवेक का ऐसा अगाध भोज्य-भण्डार है जिसमें रुचिकर, पौष्टिक, सुन्दर और टिकाऊ पकवानों की गिनती नहीं। इसीलिए, हर क्षुधित, तृषित या गुणग्राही पाठक उसमें अपने लिए कुछ न कुछ अनूठा पाता है। पाता रह सकता है। यह अज्ञेय की कविता और चिन्तन का वैविध्य नहीं, बल्कि

उससे अधिक उनके चिन्तन और भावजगत की गहराई है, जिसे पूरी सावधानी से उन्होंने शब्दों में 'पकड़' कर हिन्दी पाठक के लिए उपलब्ध किया था।

इस किंचित लम्बी पीठिका के बाद ही यह कहना ठीक है कि रमेशचन्द्र शाह लिखित **पत्रकारिता के युग-निर्माता : स.ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय'** एक सचमुच महत्त्वपूर्ण और मौलिक कृति है। वस्तुतः जब तक अज्ञेय की कोई सम्पूर्ण ग्रंथावली नहीं आ जाती, तब तक उनका जो भी अनुपलब्ध लेखन किसी पाठक के सामने आता है, वह उसके लिए एक उपलब्धि ही है। माखनलाल चतुर्वेदी पत्रकारिता विश्वविद्यालय और इसके पूर्व-कुलपति अच्युतानन्द मिश्र ने अज्ञेय के सम्पादक रूप में अवदान के पाठकों के समक्ष लाने का उपाय कर अत्यंत सराहनीय कार्य किया है। रमेशचन्द्र शाह के लिखने से यह पुस्तक और भी मूल्यवान हो गई है क्योंकि वह अज्ञेय के लेखन, चिन्तन के मर्मज्ञों में से एक हैं। इसलिए उन्होंने सम्पादक, पत्रकार अज्ञेय के कार्य और चिन्तन में सबसे महत्त्वपूर्ण बातों को पकड़ने में सफलता पाई है। कलेवर में छोटी होते हुए भी पुस्तक पाठ्य-सामग्री की दृष्टि से परिपूर्ण है।

वैसे तो पूरी पुस्तक रोचक है। बचपन से ही अज्ञेय में पत्रकारी जीवट और गम्भीरता थी। बालक सच्चिदानंद की घरेलू पत्रिका के हस्तलिखित प्रकाशन के विवरण कुतूहल और आनन्द देते हैं। इसका संकेत भी कि हर काम को गुणवत्तापूर्ण और पूरी जिम्मेदारी से करना अज्ञेय का जन्मजात गुण था। हर हाल में लेखकीय और व्यक्तिगत स्वाधीनता की रक्षा भी उनके स्वभाव का उतना ही अभिन्न अंग था। अपने हर कर्म को सामाजिक सन्दर्भ में देखते रहने की चेतना भी अज्ञेय में सहज व्याप्त थी। अन्ततः, अज्ञेय ने डर, भय, कुण्ठा, मनोग्रंथि जैसी किसी चीज को नहीं जाना था, किसी रूप में नहीं। न बालपन में, न क्रान्तिकारी, न कैदी, न सैनिक, न यायावर और न ही लेखक-सम्पादक रूप में। (निर्भयता को अज्ञेय इतना बड़ा गुण मानते थे कि उन्होंने एकाधिक जगह दुहराया है कि भारतीय मनीषा की सबसे बड़ी प्रार्थना-शिक्षा है : 'अभीता नो स्याम...', हे प्रभु, हमें निर्भय बनाओ)।

अतः अज्ञेय के लिए यह नितान्त सहज बात थी कि उन्हें कभी किसी पद पर रहते हुए जरा भी भय भी नहीं हुआ था। उपर्युक्त सभी गुणों का समवेत परिणाम था कि सम्पादक के रूप में हर स्थान पर अज्ञेय एक ऐसा काम साथ ही साथ करते रहे थे जो आज के भारत में दुर्लभ है अपना योग्य उत्तराधिकारी तैयार करने का प्रयत्न करना। "इसे मैं काम के प्रति अपना कर्तव्य समझता हूँ और अपनी आजादी का अंग भी।" (पृ. 31) अब अज्ञेय की इसी एक पंक्ति को लें, तो ऊपर आरम्भ में जो कहा गया, उसका उदाहरण हो जाता है। इस एक पंक्ति में कितनी बातें हैं! काम, उत्तरदायित्व, कर्तव्य, आजादी। न केवल पत्रकारी, बल्कि अन्य पहलुओं से भी इसमें

हमारे लिए ज्ञान की कितनी बातें निकलती हैं। पहले और सीधे रूप में ही देखें तो किसी पत्रिका को न केवल मूल्यवान बनाना, बल्कि वह तब भी वैसी बनी रहे, जब अज्ञेय उसके सम्पादक न रहें यह सहज विचार कितनी बड़ी निष्ठा, चेतना और शिक्षा का बोध कराता है।

वह केवल सैद्धान्तिक चाह नहीं थी। वास्तव में अज्ञेय अविलम्ब यह कार्य भी साथ ही आरम्भ कर देते थे। अज्ञेय के साथ 'प्रतीक' और 'दिनमान' में काम करने वाले रघुवीर सहाय ने लिखा है कि "अज्ञेय स्वयं अपने अनुभवों का विकास करते थे और अपने जिज्ञासु शिष्यों को भी अपना-अपना संस्कार करने को प्रोत्साहित करते थे। किसी को उन्होंने हीन नहीं जताया, बल्कि उसके सामने ऐसी चुनौतियाँ रखीं, जिन्हें उठाकर वह अपने को पहले से अधिक सक्षम और साहसी बना सके। वे हर व्यक्ति का अपना आत्मविश्वास जगाना जानते थे अपनी सामर्थ्य में विश्वास, न कि गुरु में विश्वास।" (पृ. 55)। इस अनुभव में अज्ञेय के कर्म, चरित्र और दृष्टि की जो गवाही मिलती है, उसकी महत्ता समझने का यत्न करना चाहिए।

पुस्तक के तीसरे ("दिनमान और अज्ञेय") तथा पाँचवें ("प्रतीक" का तीसरा समारम्भ") अध्याय सबसे अधिक रुचिकर जान पड़ते हैं। इनमें सुपठित पाठकों को भी कुछ नई बातों की जानकारी मिलेगी। शाह जी ने दिनमान वाले अध्याय को बड़े मनोयोग से लिखा है। इस अध्याय की शैली भी भिन्न है। नाटकीय अंदाज में सूत्रधार की तरह वे *दिनमान* के प्रथम अंक, 21 फरवरी (?) 1965, से ही उसकी छोटी-बड़ी विशेषताएँ बताते हुए एक जीवन्त कमेंटरी-सी प्रस्तुत करते हैं। जिससे पता चलता है कि एक राजनीतिक, समसामयिक साप्ताहिक के सम्पादक के रूप में अज्ञेय ने कितनी बड़ी जमीन तोड़ी थी। यह दुर्भाग्य है कि हिन्दी जगत उसकी मूल्यवान विरासत को बचाकर नहीं रख सका। सम्भवतः इसी कारण कि हमारे अधिकांश लेखक, पत्रकार उसकी मूल्यवत्ता को समझ ही नहीं सके थे।

दिनमान वाले अध्याय का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग लोहिया-अज्ञेय संवाद और आलोचना है (पृ. 37-38, 43-46)। लोहिया और अज्ञेय एक दूसरे की कद्र करते थे, इलाहाबाद के कॉफी हाउस में दोनों बैठकर विमर्श भी करते थे। लोहिया की बहुतेरी प्रशंसा और आलोचनाएँ हुई हैं। किन्तु लेखक-पत्रकार के रूप में अज्ञेय ने लोहिया की राजनीति और शैली की जो समालोचना की थी, वह सर्वाधिक सारवान है। देखिए, "अपने गम्भीर अध्ययन और मौलिक चिन्तन के बावजूद लोहिया बराबर अपने को ऐसी स्थिति में डालते (या रखते), जहाँ उनकी नीतियों की बुनियाद एक सर्वथा नकारात्मक 'हटाओ'-वाद के सिद्धान्त पर कायम रही है।" अज्ञेय ने आगे कहा था, "लोहिया की ठेठ भाषा में ऐसे विम्ब उभारने की शक्ति है, जिनकी छाप

मन पर बनी रहे; पर तर्क में जब हम बिम्बों और प्रतीकों का सहारा अधिक लेने लगते हैं तब सच्चाई के खो जाने का खतरा रहता है।” इस बात को अज्ञेय ने लोहिया की बातों के उदाहरण से विस्तार से स्पष्ट किया है, जो पूरा पढ़ने लायक है। लेखक ने इसे उचित ही लोहिया की सबसे गम्भीर व मारक आलोचना ठहराया है, और यह भी नोट किया कि इसकी कोई प्रत्यालोचना नहीं आई। यह प्रसंग उन सभी राजनीतिक नेताओं, तथा लेखकों-विश्लेषकों पर भी लागू है जो रेटरिक का बहुत ज्यादा या विचारहीन प्रयोग करते हैं। जो “भीड़ में भले ही काम दिख जाए; सत्य के शोध में काम नहीं देता।”

लोहिया जैसी ही बात जयप्रकाश नारायण के सन्दर्भ में भी है। जे.पी. से भी अज्ञेय का जुड़ाव रहा था। जे.पी. के आग्रह पर अज्ञेय ने अंग्रेजी साप्ताहिक ‘एवरीमैन्स’ का सम्पादन भी किया था। अज्ञेय ने अपनी एक पुस्तक *स्रोत और स्रोत* जे.पी. को सादर समर्पित की थी। फिर भी, जे.पी. के ‘समग्र क्रान्ति’ नारे की सबसे कठोर आलोचना अज्ञेय ने ही की। अज्ञेय ने सम्पूर्ण क्रान्ति को सम्पूर्ण राजनीतिकरण को गलत बढ़ावा देना कहा था, “टोटल रिवोल्यूशन टोटल पॉलिटिक्स की प्रेरणा देता है और टोटल पॉलिटिक्स अनर्थकारी से सिवा कुछ नहीं हो सकता।” (पृ. 119)। (वर्ष 1918 ई. में ठीक यही आलोचना मैक्सिम गोर्की ने लेनिन की की थी: “जहाँ केवल राजनीति ही राजनीति हो, वहाँ संस्कृति के लिए कोई जगह नहीं बचती।” *नोवाया जीज्न्*, 17 मार्च 1918)।

अज्ञेय राजनीति को समाज के विविध कर्मों में एक मानते थे, उससे अलग और ऊपर नहीं। उन्होंने जोर देकर कहा था कि राजनीतिक कर्म असल में सामाजिक कर्म है, और पूरे समाज को देखना चाहिए कि वह कहाँ तक उस राजनीति के लिए जिम्मेदार है। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक बात नहीं बनेगी। (पृ. 35)। तीसरे अध्याय में अज्ञेय की पत्रकारिता, और राजनीतिक समझ पर शाह जी, अच्युतानंद मिश्र, रघुवीर सहाय आदि की मूल्यवान सम्मतियाँ भी पठनीय और विचारणीय हैं। ऊपर तीसरे पाराग्राफ में अज्ञेय के लेखन पर जो कहा गया है, उससे मिलती-जुलती बात रघुवीर सहाय ने भी नोट की थी। (पृ. 56-57)। एक किसान की कथा के सहारे वह कहते हैं कि अज्ञेय का सम्पूर्ण लेखन ही ऐसी अगाध निधि है जिसमें हर कहीं कुछ न कुछ मूल्यवान् थाती छोड़ी गई है। यह हम भारतवासियों पर है कि हम कुछ परिश्रम कर, उसे खोज, पहचान कर लाभ उठाते हैं या नहीं।

यदि दिनमान *राजनीतिक* पत्रिका का सर्वोत्तम रूप था (जिससे बाद में *लिंक* तथा कुछ अंग्रेजी साप्ताहिकों ने भी सीखा), तो साहित्यिक पत्रकारिता का एक सुन्दर स्वरूप अज्ञेय के ही *प्रतीक* में मिलता है। इस पुस्तक के चौथे तथा पाँचवें अध्याय

इसी को समर्पित हैं। *प्रतीक* के पुराने अंकों को फिर से शोध कर शाह जी ने उसकी विविध विशेषताएँ दिखाई हैं। जैसा, बाद में राजनीतिक पत्रकारिता में भी दिखा, अज्ञेय द्वारा सम्पादित पत्रिकाएँ सदैव आधुनिक हिन्दी के समूचे साहित्यिक कृतित्व का प्रतिनिधित्व करने का सचेत प्रयत्न करती थीं। किसी वैचारिक झुकाव या गुटिय, दलीय विशेषाधिकार का कोई संकेत तक उनमें नहीं होता था। (*दिनमान* से अज्ञेय के अलग होने के बाद उसमें एक राजनीतिक मताग्रह का झुकाव दिखने लगा, जिसे अज्ञेय ने ‘गलती’ कह कर तब युवा सम्पादक ओम थानवी को अपनी *इतवारी पत्रिका* को उस दोष से दूर रखने की सलाह दी थी।) यह अज्ञेय का सचेत निश्चय रहता था कि प्रकाशनीय सामग्री के चयन में किसी लेखक या रचना की मूल्यवत्ता और मौलिकता को ही आधार बनाएँ, उसके वैचारिक आग्रह या मतवाद को नहीं। पाठकों के प्रति जिस लगाव और उत्तरदायित्व-भावना से अज्ञेय अपनी पत्रिकाओं का काम करते थे, वह एक अनूठा उदाहरण है। इसीलिए, *प्रतीक* के अंकों का पुनरावलोकन कर रमेशचन्द्र शाह अभिभूत हो उठते हैं, “कितना प्रेम परिश्रम अपने पाठक के सुरुचि-संबद्धन और भाव-दीक्षा की चिन्ता से किया गया, कितना सार्थक शोध किया है ‘प्रतीक’ के सम्पादक ने! ठेठ हिन्दी के भाव-बोध को अखिल भारतीय भाव-बोध और एशियाई भाव-बोध से जोड़ते हुए!” (पृ. 67)

विचारधारा और राजनीतिक मतवाद के प्रति साहित्यकारों को कैसा रुख लेना चाहिए, इस पर अज्ञेय के विचार काल-गति में अक्षरशः सही साबित हुए। उनके समय में मार्क्सवाद-प्रगतिवाद का दौर-दौरा था। चूँकि अज्ञेय का जीवन, शब्द और कर्म अपने अस्तित्व मात्र से उसे कड़ी चुनौती देते थे, इसलिए कट्टरपंथी प्रगतिवादी उनसे तीव्र घृणा करते थे। ओम थानवी के शब्दों में, “उनमें बेबात अज्ञेय-निन्दा का जुनून रहता था।” वस्तुतः इस जुनून के पीछे एक भारी हीन-भावना थी। प्रगतिवादी लेखक-नेतागण महसूस करते थे कि यह अकेला कवि, संस्था-विहीन, पद-विहीन, सत्ता-विहीन, धन-विहीन, पक्ष-विहीन होकर भी उनके पूरे अन्तर्राष्ट्रीयतावादी, संगठित, सम्पन्न, ‘वैज्ञानिक’ प्रगतिशील आन्दोलन को कितना दुर्बल, तर्क-बुद्धिहीन दिखा सकने में सक्षम है। उनकी बौखलाहट तब और बढ़ जाती थी जब प्रगतिवादी देखते थे कि अज्ञेय के लेखन में उनके लिए कोई अनुचित कटुता नहीं रहती थी। उल्टे, अज्ञेय उनके प्रति करुणा प्रकट करने से कतराते नहीं थे।

एक बार रामविलास शर्मा और भदंत आनन्द कौसल्यायन पर प्रगतिवादियों द्वारा ही किए गए हमलों पर अज्ञेय ने *प्रतीक* में एक सधा हुआ सम्पादकीय लिखा, जो एक क्लासिक टिप्पणी और गहन सैद्धान्तिक विवेचन, दोनों है। शाह जी ने पूरी टिप्पणी उद्धृत कर (पृ. 81-83) पाठकों का बड़ा उपकार किया है। उसकी मुख्य बात

देखें, “रामविलास शर्मा की तर्क-परम्परा और उनकी फतवे देने की प्रवृत्ति; वह हमारे लिए कभी एक खतरा नहीं थी, वह उन्हीं के लिए खतरा हो सकती है जो फतवों द्वारा शासन करने और शासित होने के आदी हैं, स्वयं उनके सम्प्रदाय के लोग, जो आज उनके शत्रु हो गए हैं। आज भी हम यही मानते हैं कि उनकी स्थापनाएँ भ्रान्त हैं। ऐतिहासिक सामग्री का उनका उपयोग पूर्वग्रहदूषित, उनका प्रमाण और सन्दर्भों का संकलन असदाशय; लेकिन हम यह भी मानते हैं कि ये सारे दोष सतर्क पाठक स्वयं भी देख सकता है...डॉ. रामविलास शर्मा ने भूल की थीयह कहकर उन्हें कुचल देने का प्रयत्न यों भी संदिग्ध हो जाता है कि जो आज यह कहकर उन्हें कुचल देना चाहते हैं, वही कल उन्हें बढ़ावे दे-देकर उनसे यह भूल करवा रहे थे और उससे भरपूर लाभ उठा रहे थे। उस समय यह भूल नहीं थी, एक राजनैतिक अस्त्र था, उसका प्रयोग चुन-चुनकर लोगों को गिराने के लिए हो रहा था। आज जब सबको गिराया जा चुका और अस्त्र नई बलि माँगने लगा तो स्वयं उसके निर्माता को बलि बनाया जा रहा है। हम इसका विरोध करते हैं तो इसलिए कि हम ऐसे बलिदानों का विरोध करते हैं, दल के स्वार्थों के नाम पर व्यक्ति के विचार-स्वातंत्र्य की हत्या का विरोध करते हैं।...” ऐसे ही सधे सैद्धान्तिक आधार पर अज्ञेय ने कौसल्यायन के विरुद्ध आन्दोलन, जो किसी दूसरे ही कोण से हो रहा था, की भी आलोचना की थी।

दरअसल, अज्ञेय के पत्रकार रूप पर केन्द्रित यह पुस्तक भी पुनः इसकी पुष्टि करती है कि अज्ञेय का सम्पूर्ण वाङ्मय ज्ञान का अगाध भण्डार है। उन्होंने जिस भी विधा में, जिस भी स्थान या पद से काम किया, अपनी सामाजिक जिम्मेदारी पूरी करने और वैयक्तिक परिश्रम में कोई कोर-कसर नहीं रहने दी। हिन्दी पत्रकारिता को भी उन्होंने नए शब्द (जैसे, यायावर, जिजीविषा, पूर्वग्रह, लोकार्पण, आदि), नए स्तम्भ (चरचे और चरखे) और नई शैली (पूरा *दिनमान*) दी। यह तो केवल एक क्षेत्र है। उनके काव्य और चिन्तन-परक लेखों में भी कला और जीवन की अनेक शिक्षाएँ हैं। इसीलिए, अज्ञेय के सम्पूर्ण लेखन पर गम्भीर शोध, चिन्तन-मनन किया जाना आवश्यक है। यह कोई अज्ञेय को और ऊँचा पद देने के लिए नहीं, बल्कि अपने निजी और सामाजिक हित में। अज्ञेय को तो अपना यथोचित स्थान सदैव मिला रहा है, जिससे वे स्वयं सन्तुष्ट थे। विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में कहें, तो “पाठक का हृदय” ही अज्ञेय का घर है। (जिन्हें इस छोटी-सी बात का मर्म समझना हो, उन्हें अज्ञेय पर एक पाठक की हैसियत से लिखा गया फणीश्वरनाथ रेणु का अविस्मरणीय निबन्ध पढ़ना होगा।)

पुस्तक की प्रस्तुति में तकनीकी लापरवाही दुःख उपजाती है। छापे और सम्पादन की गड़बड़ियाँ अनेक स्थानों पर हैं। उद्धरण चिन्ह कहाँ शुरू होते हैं, कहाँ

अन्त, यह भी कई जगह लापता हैं। कौन-सी बात अज्ञेय की है, कौन-सी पुस्तक लेखक की, कुछ स्थलों पर यह पता चलना भी असम्भव हो जाता है (जैसे, पृ. 45, 110-11)। छापे की कुछ भूलें विशेषकर कष्ट देती हैं, जैसे पृ. 55 पर अज्ञेय को श्रद्धांजलि देने वाले दो लेखों का जिक्र है जो क्रमशः 1969 ई. और 1986 में छपा बताया गया है। पुस्तक के मुख-पृष्ठ पर आज की सस्ती और एकाध घटिया पत्रिकाओं तक को जोड़कर कोलाज दे दिया गया है, जबकि *दिनमान*, *प्रतीक*, *नवभारत टाइम्स* या *एवरीमैन्स* आदि किसी को स्थान नहीं दिया गया है। आज जब तकनीक सुलभ और सस्ती है, ऐसा न किया जाना केवल वह असंवेदनशीलता दर्शाता है जिसमें हिन्दी प्रकाशन डूब गया लगता है। उसे अपने सबसे बड़े महापुरुषों की स्मृति में लिखी पुस्तकों तक के प्रति कोई जिम्मेदारी का भाव नहीं, लगाव और गर्व तो बड़ी दूर की बात है।

जातीय अस्मिता और अज्ञेय का निबन्ध-साहित्य

सदानन्दप्रसाद गुप्त

अज्ञेय स्वातन्त्र्योत्तर भारत के उन विरल लेखकों में हैं जिन्होंने हिन्दी-साहित्य को एक विशिष्ट गरिमा प्रदान की है। उन्होंने अपने सर्जनात्मक लेखन के माध्यम से न केवल भारतीय भाषा-भाषी समाज में अपितु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी-साहित्य की प्रतिष्ठा बढ़ाई। उन्होंने अपने चिन्तन प्रधान लेखन के माध्यम से यह प्रमाणित किया कि हिन्दी जगत् में भी अन्तरराष्ट्रीय स्तर के बुद्धिजीवी हो सकते हैं; हिन्दी में भी मौलिक चिन्तन किया जा सकता है। अज्ञेय के काव्य, उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध, संस्मरण, यात्रावृत्तसभी अपने क्षेत्र के प्रतिमान हैं। अज्ञेय का गद्य विशेषतया निबन्ध के रूप में आया गद्य विचारसम्पन्नता की दृष्टि से अनन्य है। उसमें दार्शनिकता की गहराई है, वह तर्कपूर्ण है और शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ है।

अज्ञेय ने अपने निबन्धों में जिन विषयों पर विचार किया है वे आज भी महत्त्व ही नहीं रखते हैं, बल्कि समय के साथ उनकी प्रासंगिकता बढ़ गई है। अज्ञेय के निबन्ध जातीय अस्मिता की चेतना से सम्पृक्त हैं। यह वही चेतना है जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही साहित्य में दिखाई देती है। 'स्वत्व निज भारत गहै' के माध्यम से भारतेन्दु ने जो आकांक्षा व्यक्त की थी और 'स्वरूप की स्वतन्त्र सत्ता' की अवधारणा के माध्यम से आचार्य शुक्ल ने जिस बिन्दु की ओर संकेत किया था (कि जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता, वह देशप्रेम का दावा नहीं कर सकता। इस स्वतन्त्र सत्ता का अभिप्राय स्वरूप की स्वतन्त्र सत्ता से है; केवल अन्न-धन संचित करने और अधिकार भोगने की स्वतन्त्रता से नहीं। अपने स्वरूप को भूलकर यदि भारतवासियों ने संसार में सुख-समृद्धि प्राप्त की तो क्या? क्योंकि उन्होंने उदात्त वृत्तियों को उत्तेजित करनेवाली बंधी-बंधाई परम्परा से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया, नई उभरी हुई इतिहासशून्य जंगली जातियों के

*सदानन्द प्रसाद गुप्त, प्रोफेसर हिन्दी विभाग, दी.द.उ. गो.वि.वि. गोरखपुर (उ.प्र.)

बीच अपना नाम लिखा लिया।¹) अज्ञेय का निबन्ध-साहित्य उसका विकास है। अज्ञेय ने किसी की आलोचना की परवाह किए बिना उन विषयों पर गम्भीर एवं पारदर्शी ढंग से बात की है, जिन पर चर्चा करने से उनके समय के अधिकांश लेखक और आज के भी कतराते दिखाई देते हैं। अज्ञेय निर्भीकतापूर्वक उन खतरों का सामना करते हैं और दृढ़तापूर्वक अपने विचारों को सामने रखते हैं। इसके लिए उन्हें अपने समय में अनेक आरोप झेलने पड़े। निर्मल वर्मा ने अपने निबन्ध 'अज्ञेय : आधुनिक बोध की पीड़ा' में इसका मार्मिक जिक्र किया है "अज्ञेय का अकेलापन ओढ़ा हुआ नहीं है, दिखावटी नहीं है। इसका एक छोर यदि अज्ञेय की आत्मसुरक्षा से जुड़ा है तो दूसरा छोर हिन्दी साहित्य के उस भयावह वातावरण से बँधा है जिसमें अज्ञेय ने अपने सर्वश्रेष्ठ वर्ष गुजारे हैं। शायद ही किसी लेखक ने अपने ऊपर इतने मूढ़, वैमनस्यपूर्ण, कर्कश प्रहार झेले हों जितने अज्ञेय ने। एक समय था जब उन्हें फ्रायड और लारेंस का 'नकलची' अनुयाई बताया गया 'मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों का शिकार (खासकर उन मार्क्सवादी आलोचकों ने जिन्होंने न फ्रायड को पढ़ा था न लारेंस और शायद मार्क्स को भी नहीं) फिर शीतयुद्ध के दिनों में वह 'अमेरिकी एजेण्ट' घोषित किए गए, बाद के वर्षों में उन्हें 'गिराने' के लिए समीक्षकों ने बेचारे मुक्तिबोध को अस्त्र बनायावही मुक्तिबोध जो अपने जीवन-काल में इतने अधिक उपेक्षित बने रहे।"² पर अज्ञेय ने उनका सीधा प्रतिवाद नहीं किया वरन् अपनी सर्जनात्मकता के धरातल पर इसका प्रतिकार करते रहे। उनकी रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। जहाँ तक उनके निबन्धों का प्रश्न है, अज्ञेय के निबन्धों का परिवेश बहुत व्यापक है; उनके चिन्तन का क्षितिज विस्तृत। उन्होंने जीवन और जगत् के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर गहराई से विचार किया है और स्पष्ट रूप से अपनी स्थापनाएँ रखी हैं। जिन प्रश्नों पर अज्ञेय ने विचार किया है उनमें प्रमुख हैं साहित्य के प्रयोजन, साहित्य और राजनीति, साहित्य में सम्प्रेषण की समस्या, साहित्य और सामाजिक प्रतिबद्धता, समकालीन साहित्य की दशा, भारतीय समाज में लेखक की स्थिति, लेखक और राज्याश्रय, लेखन और उसका परिवेश, रचनाकार की स्वायत्तता, इतिहास-बोध, भारतीयता, परम्परा और आधुनिकता, भारतीय साहित्य और परम्परा, भाषा और अस्मिता, भाषा और समाज, बोली, भाषा और राष्ट्रभाषा, समाज और व्यवस्था, व्यक्ति और समाज, मनुष्य की स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र, मूल्य और मूल्य-बोध, जनतन्त्र में बुद्धिजीवी की भूमिका, संस्कृति और संस्कृति चेतना, भारतीय संस्कृति का स्वरूप, भारतीय संस्कृति और विश्व संस्कृति, भारत में शिक्षा का स्वरूप, साम्प्रदायिक एवं नैतिक शिक्षा, शिक्षा का सांस्कृतिक सन्दर्भ, धर्म और धर्म-निरपेक्षता। अज्ञेय इन सभी बिन्दुओं पर गहराई से विचार करते हैं और निर्भीकतापूर्वक अपना मन्तव्य पाठकों के समक्ष रखते हैं।

अज्ञेय को राष्ट्रीय अस्मिता का सवाल बहुत बेचैन करता है। उन्हें लगता है कि स्वतन्त्रता-संघर्ष काल में जातीय अस्मिता का सवाल जो एक बड़ा सवाल बनकर उभरा था उसे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भुला दिया गया है। वे यह मानते हैं कि सांस्कृतिक एकता का आधार अस्मिता-बोध होता है और अस्मिता का भाषा के साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है।¹ अज्ञेय को इस बात की गहरी पीड़ा है कि स्वतन्त्रता के साथ भारतीय समाज को अपनी भाषा नहीं मिली। वे स्वभाषा की उपेक्षा से बहुत दुखी हैं—“मुझे शिक्षा मिली, शिक्षा का आधार है भाषा, पर भाषा मुझे नहीं मिली।

.. जिस समय मैं अपनी सहज बोली में सोचना सीख रहा होता, उस समय मैं पराए शब्द-समूह को रटना सीख रहा था; जिस समय मुझे गर्व होता कि मैं अपने को पहचानता हूँ, अपना निर्माता बल्कि रचयिता हूँ उस समय मैं गर्व कर रहा था कि मैं पराई लादी ओढ़ और ढो सकता हूँ कि मैं अपना अनुवादक हूँ।⁴ अज्ञेय को इस बात की गहरी बेचैनी है कि जिस अस्मिता के लिए भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी संघर्ष कर रहे थे, उसे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद गँवा दिया गया। इसलिए आजादी के बाद की उपलब्धियाँ उन्हें कई अर्थों में बेमानी लगती हैं—“मुझे सभी कुछ मिला, पर सब बेपैदा का। शिक्षा मिली, पर उसकी नींव भाषा नहीं मिली, आजादी मिली, पर उसकी नींव आत्मगौरव नहीं मिली, राष्ट्रीयता मिली, लेकिन उसकी नींव ऐतिहासिक पहचान नहीं मिली...मुझे अस्तित्व मिला पर अस्त नहीं; अवस्था मिली, पर आस्था नहीं।...क्यों नहीं मुझे वह भाषा दी जाती, जिससे कि मैं अपनी आत्मा को खोज सकूँ! क्यों नहीं मुझे वह शिक्षा दी जाती जिससे कि मैं व्यक्तित्व पा सकूँ! क्यों नहीं मुझे वह इतिहास मिलता जिससे मैं अपनी इयत्ता पहचान सकूँ, निरे पूर्वापर को परम्परा बनाकर अर्थ दे सकूँ?”⁵ अज्ञेय का यह कहना एकदम सही है कि कोई भी राष्ट्र अपनी आत्मा की पहचान पराई भाषा में नहीं कर सकता। कोई भी राष्ट्र बिना भाषा, आत्मगौरव, ऐतिहासिक पहचान, आस्था के निष्प्राण है। उन्हीं तत्त्वों में राष्ट्रीय अस्मिता मुखरित होती है। अज्ञेय अस्मिता-बोध को अनिवार्य मानते हैं। उस साहित्य की कोई विशेष प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, जिसमें कोई सांस्कृतिक अस्मिता नहीं बोलती। जिस भारतीय साहित्य में भारत नहीं बोलगा उस साहित्य की संसार में कोई प्रतिष्ठा नहीं होगी।⁶ अज्ञेय का यह मानना तर्कसंगत है कि यदि देश में सांस्कृतिक अस्मिता-बोध नहीं है तो वह आर्थिक प्रशस्ति के बावजूद बेध बना रहेगा विघटन की प्रवृत्ति किसी भी समय उसके भीतर उभर सकेगी।⁷ देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुए अज्ञेय की यह टिप्पणी कितनी सारगर्भित जान पड़ती है!

अस्मिता-बोध के अभाव का सम्बन्ध अनुकरण की प्रवृत्ति से भी है। इस अनुकरण का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में ही हो गया था। उस समय का आभिजात्य

समाज जो बाद में शासन का सूत्रधार बना अनुकरण की भावना से परिचालित था। धर्मपाल लिखते हैं—“1803 ईस्वी तक हमारा प्रभावशाली वर्ग मानसिक पराजय स्वीकार कर चुका था। इस वर्ग का एक महत्वपूर्ण अंश उत्साहपूर्वक ब्रिटिश जीवन-पद्धति, ब्रिटिश विचार-पद्धति एवं अभिव्यक्ति-पद्धति को ऐसे अपना रहा था, मानो वह बौद्धिक दारिद्र्य से ग्रस्त हो, उसके पास न अपनी प्रभा हो, न प्रतिभा, न प्रतिमान।”⁸ निर्मल वर्मा ने भी इस प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—“उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय समाज की विडम्बना यह थी कि उसके पुरोधा राजा राममोहन राय जैसे बुद्धिजीवी पश्चिमी सभ्यता के तथाकथित विकासोन्मुख आदर्शों के सम्मुख अपने को छोटा पाते थे। वे एक ओर अपने अतीत के प्रति गर्व करते थे और दूसरी ओर आधुनिक यूरोपीय मान्यताओं के प्रति आकर्षित भी थे, उन्हें उच्चतर सभ्यता का प्रतीक मानते थे। वे दोनों में समन्वय करना चाहते थे, जो बहुत भ्रामक और घातक था। वास्तव में आज जिसे पश्चिम शिक्षित आधुनिक ‘एलीट’ कहते हैं उस वर्ग की जड़ें सीधी इस तथाकथित ‘समन्वय’ से जुड़ी हैं, एक ऐसा वर्ग जो एक तरफ भारतीय परम्परा का गुणगान करता है, दूसरी ओर अपने आदर्शों और सिद्धान्तों में अपनी समूची जीवन-पद्धति में पश्चिम की नकल करता है।”⁹ आचार्य शुक्ल ने भी साहित्य और समाज में व्याप्त अनुकरण की प्रवृत्ति की तीव्र भर्त्सना की है और अपनी अस्मिता के प्रति सचेत किया है—“आजकल पाश्चात्यवाद वृक्षों के बहुत से पत्ते, कुछ हरे, कुछ नोचे हुए, कुछ सूखकर गिरे पाए हुए यहाँ पारिजात पत्र की तरह प्रदर्शित किए जाने लगे हैं जिससे साहित्य के उपवन में बड़ी गड़बड़ी दिखाई देने लगी है। इन पत्तों की परख के लिए अपनी आँखें खुली रखने और उन पेड़ों की परीक्षा करने की आवश्यकता है, जिनके ये पत्ते हैं।”¹⁰ विडम्बना यह है कि आत्महीनता और अनुकरण की प्रवृत्ति स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद और व्यापक हो गई। पश्चिम का अबाध अनुकरण देश का विशेषतया सत्ता वर्ग का चरित्र बन गया। अज्ञेय ने इस प्रवृत्ति पर गहरी निराशा व्यक्त की—“इस समय स्थिति यह है कि भौतिक समृद्धि को ही आधुनिकता और प्रगति का आधार मान लिया गया है और उस भौतिक समृद्धि के लिए भी मानदण्ड पश्चिम की वर्तमान समृद्ध अवस्था है। यदि यही आधार रहा और इसी रास्ते पर हम दौड़ते रहे तो हम पश्चिम के पीछे और पश्चिम के पिछलगू ही बने रहेंगे बल्कि उसकी अपेक्षा में और पिछड़ते ही जाएँगे।... अनुकरण की ऐसी दौड़ चली है कि हम दूसरों की ओर देखने में रास्ता देखना भी भूले जा रहे हैं।”¹¹

सबसे घातक बात तो यह है कि पश्चिम के अनुकरण में दोष दीखने के बदले यहाँ की कृति में दोष दीखता है—“भाषा और साहित्य में पश्चिम का मुहावरा बोलने में आदमी को कोई संकोच नहीं होता, यहाँ का मुहावरा बोलने में उसको यह डर लगता है कि इससे तो हम पुराने माने जाएँगे।”¹² अज्ञेय देश के लिए इस प्रवृत्ति को

अनुचित मानते हैं और इसे सांस्कृतिक संकट के रूप में रेखांकित करते हैं“हमारे साहित्य में न तो हमें अपनी अनास्था दीखती है न अपनी आस्था दीखती है, न अपनी चिन्ता दीखती है। उनकी चिन्ता, उनकी अनास्था, उनका भास हमको दीखता है और उस आधार पर हम अपने को आधुनिक मानते हैं। हर किसी को यह चिन्ता है कि मैं आधुनिक माना जाऊँइस अर्थ में कि मैं पश्चिम का मुहावरा बोल सकता हूँ, पश्चिम की चिन्ताओं की चर्चा अपनी चिन्ता के रूप में कर सकता हूँ। हमारी क्या चिन्ता होनी चाहिए, इसकी कोई चिन्ता हमको नहीं है।”¹³

आत्महीनता की स्थिति समाज चिन्तकों, आर्थिक विचारकों, दर्शनशास्त्रियों, इतिहासकारों, राजनीति विशेषज्ञों और साहित्यकारोंसभी में व्याप्त है। इस चिन्तनीय स्थिति की ओर संकेत करते हुए अज्ञेय लिखते हैं“आज हिन्दी साहित्य का, भारतीय साहित्य का कोई भी आलोचक इस साहित्य को विदेशी कसौटी पर परखे बिना कुछ कह ही नहीं सकता है, इससे बड़ा दुर्भाग्य आज के साहित्यकार का क्या हो सकता है? और यह सिर्फ साहित्यकार का दुर्भाग्य नहीं है, यह हमारे पूरे समाज का दुर्भाग्य है कि आज के भारतीय साहित्य की किसी अच्छी कृति को कोई विदेशी आलोचक अपनी कसौटी पर जाँचता हुआ अगर अच्छा कह देता है तो हम सब आँख मूँदकर उसे अच्छा मानने को तैयार हैं और अगर वह उसे बुरा कह देता है तो हम उसी तरह आँख मूँदकर उस कृति का तिरस्कार करने को तैयार हैं। यानी हम आँखें खोलने को तैयार नहीं हैं।”¹⁴

इस आत्महीनता का सबसे बड़ा कारण अपनी भाषा के प्रति अस्मिता-बोध का अभाव है। बहुत पहले भारतेन्दु ने उचित ही कहा था‘निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल’, पर भारतेन्दु के इस मंत्र को परवर्ती समय में भुला दिया गया। आचार्य शुक्ल ने भाषा को जातीय जीवन का रक्षक माना था। पर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भाषा के प्रति हमारे नियामकों के दुलमुल रवैये से बड़ी चिन्ताजनक स्थिति उत्पन्न हुई। अपनी भाषा को महत्त्व देने के बदले एक विदेशी भाषा में ही समृद्धि का स्वप्न देखा जाने लगा। अज्ञेय ने इस प्रवृत्ति की खुलकर भर्त्सना की क्योंकि वे यह जानते थे कि सांस्कृतिक एकता का आधार अस्मिता-बोध होना है और अस्मिता का भाषा के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। अज्ञेय की दृष्टि में भाषा का मनुष्य जीवन में बुनियादी महत्त्व है। भाषा मात्र मनुष्य के मनुष्य होने की पहचान और शर्त है। भाषा के बिना मनुष्य मनुष्य नहीं होता। पशु से मनुष्य के विकास में भाषा ही वह सीढ़ी है जिसको पार करके वह मनुष्यत्व को प्राप्त करता है। भाषा अपने-आपको पहचानने का साधन है। भाषा के बिना अस्मिता की पहचान नहीं होती और भाषा उसके साथ जुड़ी हुई है। आज अगर किसी समाज को भाषा से काट दिया जाए तो इतना ही नहीं है कि उससे एक भाषा छीनकर हम उसको कोई दूसरी भाषा देते हैं, हम उसकी अस्मिता खण्डित कर देते हैं।¹⁵

अज्ञेय भाषा को मूल्यबोध का आधार मानते हैं। उनके अनुसार भाषा संस्कृति की बुनियाद होती है। अज्ञेय की दृष्टि में भाषा का अवमूल्यन संस्कृति का अवमूल्यन है। उनका यह कहना समीचीन है कि भाषा संस्कृति की आत्मरक्षा का सनातन साधन है। एक समाज का निर्माण उसकी भाषा में ही सम्भव है। पूरा समाज वस्तुतः जिस भाषा में जीता है उसमें और उसके साथ जीते हुए अगर हम उस जीवन-सन्दर्भ को पहचानते हैं और भाषा में रचना करते हैं तो हमारा समाज भी रचनाशील हो सकता है। वस्तुतः भाषा हमारी शक्ति है, वह रचनाशीलता का उत्स हैव्यक्ति के लिए और समाज के लिए भी।¹⁶ भाषा और समाज के अन्तःसम्बन्धों की गहराई की बखूबी पड़ताल अज्ञेय ने की है। उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि कोई भी समाज पराई भाषा में जी नहीं सकता, जीना आरम्भ भी नहीं कर सकता... किसी भी समाज को अनिवार्यतः अपनी भाषा में जीना होगा नहीं तो उसकी अस्मिता कुण्ठित होगी ही होगी उसमें आत्म-बहिष्कार और अजनबियत के विकार प्रकट होंगे ही।¹⁷ भाषा के इसी महत्त्व के कारण अज्ञेय भारतीय भाषाओं को उसका उचित स्थान दिलाना चाहते हैं और अंग्रेजी के प्रति व्यामोह से मुक्त होने का आह्वान करते हैं। वे यह अनुभव करते हैं कि अंग्रेजी ने भारत की संस्कृति, राजनीति, समाजनीतिसबका अमानवीयकरण किया है। वे यह मानते हैं कि राजनीति के मानवीयकरण के लिए अंग्रेजी का मोह छोड़ना होगा“हमारा सार्वजनिक जीवन एक व्यापक दूषण से दूषित है, जिसे ‘अंग्रेजी अभिजात्यवाद’ कहा जा सकता है। क्या यह बात सच नहीं है कि अंग्रेजी के प्रति इस मोह के और सत्ता की राजनीति के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध है? यदि हमें इस परिस्थिति को बदलना है, सुधारना है, राजनीति का मानवीयकरण करना है, यदि हमें इस देश में मानव के व्यापकतर कल्याण की ओर ध्यान देना है तो हमें अंग्रेजी का यह मोह, अभिजात्य का अन्धापन छोड़ना ही होगा और भारतीय भाषाओं को अपनाकर उन्हीं को अपने सार्वजनिक जीवन और राजनीति का आधार बनाना होगा। भारतीय जीवन में भारतीय भाषाओं को उनका उपयुक्त स्थान दिए बिना विकेन्द्रीकरण का या सांस्कृतिक वैविध्य का कोई अर्थ नहीं है। अंग्रेजी के साथ जुड़ी हुई उच्चता और अभिजात्य की भावना का परित्याग देशहित में जरूरी है।”¹⁸ आज जब अंग्रेजी सर्वग्रासी भाषा का रूप लेती जा रही है, अंग्रेजी-संस्कृति हमें आत्म-विस्मृति की ओर ले जाने का प्रयत्न कर रही है तब अज्ञेय के कथन की गम्भीरता समझ में आती है। अगर हम सचेत नहीं हुए तो अंग्रेजी उन समस्त सांस्कृतिक स्रोतों को सुखा देगी, जिससे प्रत्येक भारतवासी जीवन रस प्राप्त करता रहा है, वह हमें पूर्णतया स्मृतिविहीन कर देगी, क्योंकि किसी समाज को स्मृतिविहीन करने का सबसे सरल उपाय है उसकी भाषा को समाप्त कर देना।

भाषा के महत्त्व और परिवेश के साथ उसकी सम्प्रक्ति, भाषाई अस्मिता पर विचार करने के क्रम में अज्ञेय ने भारतीय भाषाओं के बीच हिन्दी की भूमिका को भी

रेखांकित किया है। अज्ञेय भारतवर्ष में सभी भारतीय भाषाओं की तुलना में हिन्दी की व्यापकता की ओर ध्यान दिलाते हैं। अज्ञेय का मानना है कि भारत की आधुनिक भाषाओं में हिन्दी ही सच्चे अर्थों में सदैव भारतीय भाषा रही है क्योंकि वह निरन्तर भारत की समग्र चेतना को वाणी देने का प्रयास करती है। और सभी भाषाओं में प्रदेश बोला हैकई बार बड़े प्रभावशाली ढंग से बोला है; हिन्दी में आरम्भ से ही देश बोलता रहा हैभले ही कभी-कभी कमजोर स्वर में भी बोला है... एक वृहत्तर आदर्श उसके सामने रहा है और उसे वह मूर्त करती रही है... हिन्दी समग्र संस्कृति की संवाहिका है।¹⁹

अज्ञेय ने हिन्दी के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है कि उसे कभी सत्ता-प्रतिष्ठान का सहयोग नहीं मिला और उसने अपने स्वभाव के अनुरूप सत्ता-प्रतिष्ठान का विरोध भी किया। इस विरोध की शक्ति ने उसके भीतर एक आत्म-विश्वास का संचार किया। पर इसके साथ ही भारतीय परम्परा का संवहन करनेवाली भाषा भी हिन्दी रही है। अज्ञेय के अनुसार हिन्दी की अपनी इसी विशेषता ने उसे सांस्कृतिक दृष्टि से केन्द्रोन्मुखी बनाया। अज्ञेय यह उचित ही कहते हैं कि हिन्दी सही अर्थों में सांस्कृतिक क्लियरिंग हाउस का काम करती रही।²⁰ अज्ञेय हिन्दी के केन्द्रीय महत्त्व की ओर बार-बार हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। वे इस बात पर बल देते हैं कि हिन्दी ने ही सारे देश में भारतीय संस्कृति को बनाए रखा; भारतीयता के बोध को जीवित रखा। हिन्दी को अज्ञेय संगमों की भाषा कहते हैं। वे यह मानते हैं कि हिन्दी भाषा से प्रवृत्तियाँ उठीं और सारे देश में फैलीं साथ ही दूसरे भाषा क्षेत्रों में भी जो प्रसारणीय हुआ वह हिन्दी में आया और हिन्दी से छनकर वितरित हुआ। 19वीं शताब्दी से पहले हिन्दी के माध्यम से ही भारतीयता की पहचान होती थी। यहाँ तक की आजादी की आकांक्षा उसी भाषा के माध्यम से विकसित हुई, बांग्ला में उसके उदय के बावजूद।²¹

संस्कृति अज्ञेय का महत्त्वपूर्ण विषय है। वह इनकी मूल चिन्ताओं में से एक है। वे यह मानते हैं एक भाषा, साहित्य, व्यक्ति और समाज का संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अज्ञेय का यह कहना युक्तियुक्त है कि संस्कृति का मूल आधार भाषा है और भाषा का चरम उत्कर्ष साहित्य में प्रकट होता है; अतः साहित्य का पतन संस्कृति का और अन्ततः जीवन का पतन है। एक वर्ग के साहित्यकारों द्वारा संस्कृति की चर्चा करनेवालों को प्रगतिविरोधी कहे जाने पर अज्ञेय तीखी टिप्पणी करते हैं। “इस देश में जनवाद के नाम पर बहुमूल्य विरासत को विकृत करने का प्रयास किया गया है, उनमें संस्कृति एक है। अज्ञेय तथाकथित प्रगतिशीलों के पाखण्ड को अनावृत्त करते हैं।” असल में सारे देश ने बिना सोचे-समझे और एक झूठे तथा विकृत जनवाद के नाम पर स्वीकार कर लिया है कि संस्कृति तो एक बुर्जुआ चीज है, बुर्जुआ है, इसलिए प्रगति-विरोधी है अर्थात् अगर समाज बदलना है, अगर प्रगति में गत्यात्मकता

लानी है तो संस्कृति को मिटाना होगा।²² अज्ञेय की स्पष्ट मान्यता है कि संस्कृति न तो बुर्जुआ है, न प्रगति-विरोधी है, वह समाज को स्थायित्व देती है, उसे स्थितिशील नहीं बनाती। संस्कृति एक कब्र नहीं है, वह तो जमीन है, जिस पर पैर टेके बिना प्रगति हो ही नहीं सकती। संस्कृति पूरे समाज की चीज है, जीवनदायिनी है और गौरव की वस्तु है।²³ वस्तुतः समाज, संस्कृति और व्यक्ति के बारे में विकृत और दुराग्रहपूर्ण चिन्तन की जड़ में बहुत दूर तक हमारी राजनीति रही है। तथ्य और सत्य यह है कि संस्कृति समग्र समाज की सार्थवती दृष्टि, उसकी निर्मात्री प्रतिभा है, जो व्यक्ति के माध्यम से व्यक्त होती है।²⁴

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय से ही प्रगतिशील लेखक संघ के झण्डे तले तथाकथित प्रगतिशील बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों ने साहित्य की दुनिया को अनेक प्रकार से प्रदूषित किया। परम्परा से प्रचलित अनेक पारिभाषिक शब्दों और उसकी अर्थच्छायाओं को लांछित किया। संस्कृति को बुर्जुआ कहना इसी का प्रमाण है। वामपंथी और अपने को सेक्युलरवादी कहलानेवालों ने सत्ता केन्द्रित राजनीति को अधिक महत्त्व दिया, जिससे साहित्य एवं संस्कृति की स्वायत्तता की अपार क्षति हुई। निर्मल वर्मा ने वामपन्थियों की इस दुरभिसन्धि पर सही टिप्पणी की है “समकालीन हिन्दी साहित्यकार संस्कृति से अपने को जोड़कर राजनीति में व्याप्त मूल्यहीन सत्तावादिता का विरोध कर सकता था, उस सत्तावादिता का जिसने जीवन के हर क्षेत्र को दूषित कर रखा है, पर हुआ इसके विपरीतसाहित्यकार साहित्य-संस्कृति से कटकर राजनीति के सत्तामत वादी दबाव के आगे घुटने टेकने लगा।²⁵

अज्ञेय संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध परिवेश से मानते हैं; उनकी यह दृढ़ धारणा है कि कोई संस्कृति न तो अपनी जमीन को छोड़कर पनप सकती है और न चारों ओर से बहकर आनेवाली हवाओं के प्रति अपने को बन्द कर सकती है। अपनी जमीन से सम्बन्ध टूटने पर वह परोपजीवी और पर निर्भर हो जाएगी।²⁶

भारतीयता स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद महत्त्वपूर्ण प्रत्यय के रूप में उभरी यद्यपि भारतेन्दु युगीन साहित्य से ही इसकी व्यंजना मिलती है। अज्ञेय के लिए भी भारतीयता महत्त्वपूर्ण विचार बिन्दु है। संयोग यह है कि अज्ञेय की परम्परा के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाकार निर्मल वर्मा के लिए भी भारतीयता का विशेष महत्त्व है। निर्मल तो मानते हैं कि हर संवेदनशील भारतीय के लिए अपनी खोई हुई पहचान को ऐतिहासिक विस्मृति के कुहासे से निकालकर दिन के उजाले में लाना है ताकि हम अपने ‘चेहरे’ को वैसा ही देख सकें जैसा वह है। निर्मल के लिए भारतीयता की खोज स्वयं अपनी चेतना से विस्मृति की धूल पोंछने का प्रयास है।²⁷ अज्ञेय अपने लेखन में परम्परा और भारतीयता पर बल देते हैं और उसे पहचानने तथा स्वीकार करने को आवश्यक मानते हैं। वे उन साहित्यकारों और चिन्तकों को आड़े हाथों लेते हैं जो भारतीयता के सवाल को उपहास की दृष्टि से देखते हैं “नव स्वतन्त्र अफ्रीकी देशों

का साहित्यकार अपनी अस्मिता की आक्रोश भरी खोज को श्यामत्व (नेग्रिच्यूड) का नाम देता है और हमारे आलोचक प्रशंसा के मारे आपे से बाहर हो जाते हैं। पर भारतीय साहित्यकार भारतीयता की बात करता है तो वे ही आलोचक लड़ लेकर उसके पीछे पड़ जाते हैं... क्योंकि भारतीय अस्मिता नाम से उन्हें चिढ़ है।”²⁸

अज्ञेय अपने-आपको भारतीय कहने में गौरव का अनुभव करते हैं: “मैं अपने को भारतीय मानता और समझता हूँ इसमें मुझे एक गौरव का भी बोध होता है जो ऐसा नहीं है कि उदारता का शत्रु हो या कि दूसरी संस्कृतियों के वृत्त में रहनेवालों के प्रति मुझे असहिष्णु बनाए।”²⁹ आमतौर पर अपने को भारतीय कहनेवाला दकियानूस, रूढ़िवादी माना जाता है, पर अज्ञेय ऐसा नहीं मानते बल्कि इसका प्रत्याख्यान करते हैं। अज्ञेय की दृष्टि में आधुनिकता और भारतीयता में कोई बुनियादी विरोध नहीं है। आधुनिक होने का अर्थ यह नहीं है कि हम भारतीय बिलकुल न रहें और पश्चिम की नकल करें। हम विश्व में और भारत में बदलती हुई परिस्थिति को पहचानें, तटस्थ होकर नई स्थिति की छाप ग्रहण करेंमिटें नहीं, नए संस्कारी हों। अगर यह नहीं होता तो हम आधुनिक नहीं हैं।³⁰ अज्ञेय ने भारतीयता को परिभाषित किया है, उसके महत्त्वपूर्ण लक्षणों को रेखांकित किया है। उनकी दृष्टि में भारतीयता का पहला लक्षण है सनातन की भावना, काल के आदिहीन अन्तहीन प्रवाह की भावना। भारतीयता का दूसरा उल्लेखनीय लक्षण है स्वीकार की भावना, विमत के स्वीकार की भावना। “आ नो भद्रा : क्रतवो यन्तु विश्वतः” इसी की सूचना देता है।

इस भारतीयता का गहरा सम्बन्ध राष्ट्रबोध से है, अज्ञेय के शब्दों में कहे तों ‘देशबोध’ से है। ‘भारतीयता’ और ‘देशबोध’ से परहेज करनेवाले और इसे अन्तरराष्ट्रीयता और विश्वमानवता में बाधक माननेवालों को अज्ञेय आड़े हाथों लेते हैं: “कुछ लोग अपने को देश से कटा हुआ पाकर अपने को यह कहकर दिलासा देते हैं कि क्या हुआ, वे विश्व नागरिक हो गए हैं। पर यह भ्रम दिलासा ही है, अपने को भ्रम देना ही है। देश से टूटकर विश्व नागरिकता नहीं मिलती, देश से एकात्म होकर उसकी सीमा का अतिक्रमण करने से मिलती है।”³¹ अज्ञेय की यह मान्यता चाणक्य की प्रसिद्ध उक्ति ‘त्यजेदेकं कुलस्यार्थं ग्रामस्यार्थं कुलं त्यजेत् ग्रामं जनपदस्यार्थं आत्मार्थं पृथ्वीं त्यजेत्’ की याद दिलाता है। अज्ञेय का यह कहना बिलकुल तर्कसंगत और समीचीन है कि राष्ट्रीय हुए बिना अन्तरराष्ट्रीय हुआ ही नहीं जा सकता और जो होने का दावा करते हैं वे हिप्पोक्रेट हैं, परम व्यक्तिवादी हैं और यदि तुलसी बाबा की पंक्तियों के आधार पर कहें तो कह सकते हैं कि वे इस प्रवृत्ति के होते हैं ‘ब्रह्मग्यान विनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात। कैडल लागि लोभ बस करहिं विप्र गुर घात।’³² अज्ञेय ऐसे लोगों की वास्तविकता सामने लाते हैं: “विश्व संस्कृति की आरती उतारकर मानो संस्कारी भारतीय होने के दायित्व से हम छुट्टी पा जाते हैं : न केवल अपने कुएँ के मेढक बने रहने के लिए आधार पा लेते हैं बल्कि सब ताल, पोखर,

नदियों से घृणा का भी समर्थन हमें मिल जाता है। ठीक वैसे ही जैसे अपनी राजनीति में विश्वनागरिकता की आरती गाकर हम भारतीय नागरिकता की जिम्मेदारी से मुँह चुरा लेते हैं और तन्मय होकर जात-पात दल-बदल खरीद-बेच की प्रादेशिक, आँचलिक या निरी गँवई राजनीति में आकण्ठ डूबे रहते हैं और ऐसा करके हम आत्म-प्रवंचना के कुहासे में ही जीते रहते हैं। आत्म-निर्भर होने से पहले समृद्ध होने की भूल का अर्थ है और परावलम्बित गरीबी... सच्चे अर्थों में राष्ट्र होने से पहले ‘वर्ल्ड पावर’ होने चलने के मोह का परिणाम है देश विघटनकारी राजनीति।”³³ यह वस्तुतः जवाहर लाल नेहरू एवं नेहरू युग की तथा नेहरू की परम्परा का राग अलापनेवालों पर कठोर टिप्पणी है। नेहरू ने विश्व-नागरिकता के स्वत्व का परिणाम 1962 के चीनी आक्रमण में देख लिया था। देश ने इस नीति का परिणाम जम्मू-कश्मीर और पूर्वोत्तर भारत में भी देखा है। देश-बोध के बदले विश्वबोध की हवाई दुनिया में विचरने का ही फल है कि देश में कुछ ऐसी समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं, जो नासूर बन गई हैं।

धर्म और धर्मनिरपेक्षता आजादी के बाद चिन्तकों के समक्ष विचार का महत्त्वपूर्ण बिन्दु रहा है। भारतीय संस्कृति में धर्म का अनन्य महत्त्व रहा है। पर जबसे रेलीजन और मजहब के साथ जोड़कर इसकी व्याख्या की जाने लगी तभी से अवधारणामूलक भ्रान्ति उत्पन्न हुई। स्वातन्त्र्योत्तर निबन्धकारों में अज्ञेय और निर्मल वर्मा ने इन प्रत्ययों पर गम्भीरता से विचार किया है और भारतीय धर्म की विशिष्ट अवधारणा पर प्रकाश डाला है। अज्ञेय इस बात को विशेष रूप से रेखांकित करते हैं कि ‘भारतीय परिभाषा में धर्म वह नहीं है जो पश्चिम एशिया अथवा योरोप में समझा जाता है अर्थात् इसकी जड़ किसी अनिवार्य मत विश्वास में नहीं है, जिससे इधर-उधर हटना ‘हैरेसी’ या ‘कुफ्र’ हो जाता है।’³⁴ अज्ञेय ने बहुत ही तार्किक ढंग से अपने विचारों को पाठकों के समक्ष रखा है। भारतीय धर्म एवं साझी मजहबी व्यवस्था में स्पष्ट भेद है और दोनों में अन्तर संस्कृतियों का अन्तर है जिसमें एक की परिणति उदारता में होती है तो दूसरी की कट्टरता में। अज्ञेय लिखते हैं: “जिसको हम हिन्दू धर्म कहते हैं उसमें जो बुनियादी तत्त्व है वह यह कि इसमें इस बात का महत्त्व नहीं है कि आप क्या मानते हैं बल्कि आप समाज में कैसे रहते हैं। लेकिन इस्लाम और मसीही धर्म में यह स्थिति नहीं रही। वहाँ महत्त्व का सवाल यह होता है कि आप क्या मानते हैं।”³⁵ भारतीय ‘धर्म’ और पश्चिम का ‘रेलीजन’ दोनों दो भिन्न जीवन दृष्टि का प्रतिबिम्बन करते हैं। अज्ञेय संकेत करते हैं: ‘धर्म’ धारण करता है, ‘रेलीजन’ बाँधता हैदोनों शब्दों की व्युत्पत्ति ही इस भेद को स्पष्ट कर देती है।... भारतीय दृष्टि से संस्कृति के क्षेत्र में धार्मिक बनाम लौकिक जैसा कोई विरोध सम्बन्ध बनता ही नहीं था। दूसरी ओर पश्चिम के चिन्तन में आरम्भ से ही रेलीजियस बनाम सेक्युलर अथवा सेक्रेड बनाम प्रौफैन का बुनियादी द्वन्द्व रहा।³⁶ हिन्दू धर्म की दुर्लभ विशेषता है एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति। इसकी यही विशेषता इसे अन्य मतों से

अलग करती है। अज्ञेय की दृष्टि इस वैशिष्ट्य को ढूँढ़ लेती है“जहाँ इस्लाम, ईसाइयत और यहूदियत की इमारत एकान्तवादी मान्यता पर बनाई गई है वहीं हिन्दू धर्म की इमारत किसी मत-विश्वास या एकान्तवादी मान्यता पर नहीं बनाई गई है बल्कि सृष्टिमात्र के सम्बन्ध पर आधारित है।”³⁷ हिन्दू धर्म मत या विश्वास के आधार पर अपने-पराए का भेद नहीं करता जबकि इस्लाम और ईसाइयत में यह भेद विद्यमान है“दूसरे धर्ममत (ईसाई एवं इस्लाम) सबसे पहले अपने आस-पास एक बाड़ा बनाते हैं, जो उसके भीतर हैं वे अपने हैं और बाकी ‘गैर’ हैं। कभी-कभी शत्रु माने जाते हैं लेकिन हिन्दू जीवन दृष्टि ऐसे बाड़े नहीं बनाती और किसी को गैर नहीं मानती। मत-विश्वास के आधार पर बाड़े नहीं बनाती।”³⁸ निर्मल वर्मा ने भी हिन्दू धर्म की इस विशेषता को खास तौर से चिह्नित किया है“धर्म सिर्फ व्यक्ति के उन मताग्रहों का पुंज मात्र नहीं है जिसे अपनी वैधता किसी चर्च, किसी प्रतिष्ठान, किसी पुस्तक से प्राप्त होती है। वह एक आइडियोलॉजी नहीं है। वह शताब्दियों से अर्जित अनुभवों से निचोड़ा हुआ आत्मबोध है, जिसकी कसौटी पर हम झूठ को सच से, न्याय को अन्याय से, सत् को तमस् से अलग करने का प्रयास करते हैं।... यही वह भावबोध है, जिसमें मनुष्य की अन्तश्चेतना उसकी कांशस, अन्तर-आत्मा वास करती है।”³⁹ निर्मल वर्मा ने ‘रिलीजन’ और ‘मजहब’ के सीमित दायरे और ‘धर्म’ की व्यापक अवधारणा की ओर बहुत ही तर्कसंगत ढंग से संकेत किया है“रिलीजन शब्द मनुष्य के विश्वासों, मान्यताओं से सम्बन्ध रखता है और मजहब कुरान में कही गई बातों को ही स्वीकृति देता है। लेकिन ‘धर्म’ से जो ध्वनि निकलती है वह इन दो शब्दों से कहीं व्यापक हैइसका अभिप्राय है अपने कर्तव्यों, जिम्मेदारियों और सबसे बड़ी जिम्मेदारी से गहरा सम्बन्ध रखते हुए उसका निर्वहन।”⁴⁰

इस्लाम और ईसाइयत में ‘काफिर’ या ‘इनफिडल’ की अवधारणा पर बल है जिससे वह दूसरों को स्वीकार नहीं कर पाता, दूसरे इसमें मनुष्य का जन्म ही पाप का परिणाम माना जाता है जबकि ऐसी कोई शर्त ‘धर्म’ के साथ नहीं है। अज्ञेय इस फर्क को भी शिद्दत के साथ महसूस करते हैं“अन्य सभी ‘धर्म’ विश्वास के कुछ नुक्ते सामने रख देते हैं। उन पर विश्वास करनेवाला धर्मवान् व्यक्ति माना जाता है और उन पर विश्वास न करनेवाला ‘काफिर’ या ‘इनफिडल’। इसका दूसरा पक्ष यह है कि जो लोग चाहकर भी इन नुक्तों पर अपना विश्वास कायम नहीं रख सकते वे अपने को पापी या अपराधी मानते हैं। हर धर्म में जिसके साथ धर्म बीजों पर आस्था की शर्त लगी हुई है, यह अपराध भावना अथवा पाप भावना पाई जाती है और आस्था का संकट भी कभी-न-कभी होता है। भारतीय ‘धर्म’ में ऐसी कोई शर्त नहीं है। इसलिए भारतीय मानस उस तरह के पाप-बोध से भी आक्रान्त नहीं होता जिसकी पश्चिम के साहित्य में इतनी चर्चा रही। यहाँ धर्म का आधार किसी विश्वास की रूढ़ि नहीं बल्कि आचरण रहा है। पश्चिम में और इस्लामी जगत् में धार्मिक सुधार के

जितने आन्दोलन हुए हैं उन सबका सूत्र यह रहा है “अमुक बात कुफ्र है अथवा अन्धविश्वास है ऐसा न मानकर ऐसा मानो।” इसके विपरीत भारत में धार्मिक सुधारों के सभी आन्दोलनों में जोर किसी धर्म विश्वास की रूढ़ि पर न रहकर आचरण पर रहा है, ‘ऐसा करना उचित नहीं है अमुक आचरण के बदले अमुक आचरण करो।’⁴¹

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जिस एक शब्द ने भारतीय समाज विशेषकर राजनीति, शासन-व्यवस्था, शिक्षा, साहित्य को दूषित किया है, बुद्धिजीवी कहे जानेवाले पश्चिमी शिक्षा प्राप्त, लोगों को दिग्भ्रमित किया है वह है ‘धर्म-निरपेक्षता’ शब्द। निर्मल वर्मा का यह कहना बहुत ही युक्तियुक्त है कि धर्म-निरपेक्षता की प्रचलित अवधारणा हम पर जबरन थोपी गई है। वे लिखते हैं“स्वतन्त्र भारत में ‘धर्म-निरपेक्षता’ के नाम पर हमने आस्था और जिज्ञासा की खिड़कियों पर परदे गिरा दिए हैं। मनुष्य का धर्म उसका व्यक्तिगत सरोकार बनकर रह गया है। हमारे सार्वजनिक जीवन में विविध धार्मिक विश्वासों का मुक्त आदान-प्रदान नष्ट हो चुका है। हमें डर लगता है कि यदि खुलकर हम विभिन्न धार्मिक विश्वासों पर बातचीत करेंगे तो ‘साम्प्रदायिकता’ के दोषी ठहराए जाएँगे।”⁴² धर्म-निरपेक्षता निर्मल की दृष्टि में भारतीय परम्परा के लिए अजनबी शब्द है और इस शब्द ने हमें अपनी परम्परा से विच्छिन्न किया है। निर्मल इसे आत्म-निर्वासन की स्थिति कहते हैं। राजनीति में धर्म-निरपेक्षता मुस्लिम मतों को हासिल करने का हथियार बन गई है। इस शब्द ने हमारी राजनीति को समाज-व्यवस्था को ‘हिप्पोक्रेट’ बनाकर रख दिया है। वस्तुतः धर्मनिरपेक्षता का जो सेक्युलरिज्म का पर्याय है, हमारी सांस्कृतिक पीठिका से दूर का लेना-देना नहीं है, इसका सम्बन्ध यूरोप की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से है, जहाँ चर्च और राज्य के बीच आक्रामक विरोध रहा है।

अज्ञेय भी धर्मनिरपेक्षता के नाम पर भारतीय समाज एवं राजनीति में प्रचलित पाखण्ड पर प्रहार करते हैं। अज्ञेय इस शब्द के प्रयोग पर नीयत पर सवाल खड़ा करते हैं। इस दृष्टि से अज्ञेय का एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध है, ‘धर्म निरपेक्षता के दर्जे।’ वे ‘एक नम्बर’ और ‘दो नम्बर’ की धर्म-निरपेक्षता का सवाल उठाते हैं। वे भारत के तथाकथित प्रगतिशील नेताओं के गर्व भरे कथन का हवाला देते हैं जो यह कहते नहीं अघाते कि ‘भारत दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा मुस्लिम राष्ट्र है।’ ऐसा कहकर वे अपने ऊपर उदारता एवं प्रगतिशीलता का ठप्पा लगा देते हैं। अज्ञेय कहते हैं कि तथ्य के आधार पर यह कथन सत्य है क्योंकि इण्डोनेशिया के बाद सबसे अधिक मुसलमान भारतवर्ष में रहते हैं। पर इसके साथ ही अज्ञेय कहते हैं कि इसी तर्क के आधार पर यह भी कहना चाहिए कि भारत दुनिया का सबसे बड़ा हिन्दू राष्ट्र है क्योंकि संसार के किसी दूसरे देश की अपेक्षा यहाँ हिन्दू अधिक बसते हैं। अज्ञेय यहाँ के बुद्धिजीवी तथा प्रगतिशील राजनीति एवं समाज-चिन्तक कहे जानेवाले लोगों की नीयत को कठघरे में खड़ा करते हैं क्योंकि एक बात कहनेवाला अपने को उदार,

प्रगतिशील और धर्म-निरपेक्ष मानता है और दूसरी बात कही नहीं जाती या उसे कहनेवाले या सोचनेवाले को तुरन्त संकीर्ण, प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिक मान लिया जाता है।⁴³ अज्ञेय इस पर सवाल करते हैं कि ऐसा क्यों है और समाज से बार-बार विचार करने का आग्रह करते हैं। अज्ञेय इस दोहरे मानदण्ड से मुक्त होने का भी आग्रह करते हैं। अज्ञेय इस कथन में साम्प्रदायिकता की कोई गन्ध नहीं महसूस करते कि भारत दुनिया का सबसे बड़ा हिन्दू राष्ट्र है। बल्कि वे इस पर बल देते हैं कि इस देश में धर्म-निरपेक्षता की अर्थवत्ता ही इस बात पर निर्भर करती है कि यह देश इस तथ्य से निकलने वाली अपनी जिम्मेदारी को पहचाने और स्वीकार करे। इसे पहचानकर देश धर्मनिरपेक्षता को उसके सही स्थान पर प्रतिष्ठित करे। अज्ञेय कहते हैं कि अभी देश में 'दो नम्बर' की धर्म-निरपेक्षता प्रतिष्ठित है। इसे हटाकर 'एक नम्बर' की धर्मनिरपेक्षता कायम करने की जरूरत है।

अज्ञेय ने आज से कई दशक पूर्व जो अनुभव किया था, वह आज भी उतना ही सच है कि पश्चिम पूँजी और अस्त्र के व्यापार का प्रयोग ईसाइयत के पक्ष में करने में संकोच नहीं करता। इस्लाम भी खनिज तेल से मिलनेवाली राजनैतिक शक्ति का उपयोग न केवल राजनैतिक अस्त्र के रूप में कर रहा है, बल्कि साम्प्रदायिक विस्तार के लिए भी कर रहा है।⁴⁵

इस प्रकार अज्ञेय मनुष्य-जीवन के विविध पक्षों पर बहुत ही गम्भीरता के साथ तर्कसम्मत ढंग से विचार करते हैं। वे भाषा-साहित्य, संस्कृति, समाज से जुड़े सवालों पर जातीय चेतना के परिप्रेक्ष्य में विचार करने का आग्रह करते हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम समग्रता में अज्ञेय के विचारों का मूल्यांकन करें और यदि उचित लगे तो प्रचलित मान्यताओं में संशोधन करें। अज्ञेय का लेखन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और जैसा कि निर्मल वर्मा लिखते हैं 'नारों और अति सरलीकृत फार्मूलों के घटाटोप वातावरण में वे बहुत कुछ देते हैं जो एक बार फिर हमारा विश्वास मनुष्य के विवेक और शब्द की गरिमा में प्रतिष्ठित करता है।'⁴⁶

सन्दर्भ

1. 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य'। चिन्तामणि भाग-2, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण सं. 2035 वि., पृ. 33।
2. 'अज्ञेय : आधुनिक बोध की पीड़ा'। कला का जोखिम। संस्करण 1984 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 76।
3. 'सांस्कृतिक समग्रता : भाषिक वैविध्य'। केन्द्र और परिधि। नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण 1984, पृ. 4।
4. 'असन्तोष की पहली पीढ़ी', वही, पृ. 33।

5. वही।
6. 'सांस्कृतिक समग्रता' और भाषिक वैविध्य। केन्द्र और परिधि। पृ. 19।
7. वही। पृ. 10।
8. 'भारत का स्वधर्म'। भारतीय चित्र, मानव एवं काल। पुनरुत्थान ट्रस्ट, अहमदाबाद संस्करण 2006, पृ. 53।
9. 'अतीत : एक आत्ममन्थन'। शब्द और स्मृति, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1976, पृ. 67-68।
10. 'काव्य में अभिव्यंजनावाद'। चिन्तामणि भाग-2, पृ. 132।
11. 'जनतन्त्र में बुद्धिजीवी की भूमिका'। केन्द्र और परिधि, पृ. 21।
12. 'सभ्यता का संकट'। केन्द्र और परिधि, पृ. 133।
13. वही, पृ. 134।
14. 'समकालीन कविता की दशा'। सर्जना और सन्दर्भ, संस्करण 1995, पृ. 403।
15. 'भाषा और समाज'। केन्द्र और परिधि, पृ. 136।
16. वही, पृ. 148-49।
17. 'भाषा और अस्मिता'। सर्जना और सन्दर्भ, पृ. 336।
18. 'समग्र परिवेश में राजनीति'। केन्द्र और परिधि, पृ. 153।
19. 'हिन्दी का वर्तमान और भविष्य'। वही, पृ. 8-9।
20. 'हिन्दी : भारत के हृदय की कुंजी'। वही, पृ. 93।
21. 'परम्परा, प्रभाव और प्रक्रिया'। आत्मपरक। नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण 1983, पृ. 98-99।
22. 'संस्कृति यहाँ, वहाँ या कब्र में?'। केन्द्र और परिधि, पृ. 194।
23. वही, पृ. 195।
24. 'शिक्षा का सांस्कृतिक सन्दर्भ'। वही, पृ. 398।
25. 'अज्ञेय : आधुनिक बोध की पीड़ा'। कला का जोखिम, पृ. 76।
26. 'सांस्कृतिक समग्रता : भाषिक वैविध्य'। केन्द्र और परिधि, पृ. 6।
27. 'साहित्य के प्रासंगिक प्रश्न'। आदि अन्त और आरम्भ, संस्करण 2009, पृ. 123।
28. अन्तरा, पृ. 105।
29. 'आँखों देखी और कागद लेखी'। आत्मपरक, पृ. 355।
30. 'परम्परा, प्रभाव और प्रक्रिया'। वही पृ. 101।
31. 'शिक्षा जोड़नेवाली या तोड़नेवाली'। 'केन्द्र और परिधि,' पृ. 68।
32. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा 99 (क)।
33. 'भारतीय संस्कृति या विश्व संस्कृति'। केन्द्र और परिधि, पृ. 311।
34. 'संस्कृति की चेतना', वही, पृ. 297।
35. 'साम्प्रदायिक और नैतिक निष्ठा', वही पृ. 351।
36. 'व्यक्ति और व्यवस्था : व्यक्ति और समाज', वही, पृ. 160।

37. 'धर्म-निरपेक्षता के दर्जे', वही, पृ. 203।
38. वही।
39. 'बीच की एक राह'। दूसरे शब्दों में। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1997, पृ. 90।
40. 'लेखक को किसी विचारधारा का गुलाम नहीं होना चाहिए', वही, पृ. 195।
41. 'आँखों देखी और कागद लेखी।' आत्मपरक, पृ. 356।
42. 'संवाद की मर्यादाएँ।' कला का जोखिम। पृ. 55।
43. 'धर्म-निरपेक्षता के दर्जे'। केन्द्र और परिधि, पृ. 203।
44. वही, पृ. 204।
45. वही, पृ. 205।
46. 'अज्ञेय : आधुनिक बोध की पीड़ा।' कला का जोखिम, पृ. 80।

सुनीता जैन के साहित्यकार की कद-काठी

पुष्पपाल सिंह*

सुनीता जैन से हुई मात्र दो-चार मुख्तसर-सी मुलाकातों तथा कुछ फोन चर्चाओं से उनके बौद्धिक व्यक्तित्व से निरन्तर प्रभावित होता रहा हूँ, परिचय की इन सीमाओं में उनका व्यक्तित्व ऊपर-ऊपर से ही खुल पाता है, परिचय की ऐसी डोर थमाता हुआ जिसमें न अन्तरंगता है, न बहुत कुछ दुराव-छिपाव, पर सदैव एक आत्मीयता, अपनेपन का पूर्ण बोध देता हुआ। किन्तु उनके साहित्यिक व्यक्तित्व से मेरा परिचय काफी पुराना है, तीसेक वर्ष पुराना भी हो सकता है। यह परिचय पहले उनकी कहानियों से ही प्रारम्भ हुआ, फिर पिछले कुछ वर्षों में उनके काव्य-संसार से पूरी अन्तरंगता में हुआउनकी लिखी कविता की प्रायः हर पंक्ति का पाठक रहा हूँ मैं। इसीलिए जब उनके समग्र साहित्य के सम्पादन का प्रस्ताव आया तो मैंने तत्काल स्वीकृति दे दी, कदाचित् यह उस 'आत्मीयता' का ही अंग था जिसकी चर्चा अभी की गई है। सुनीता जैन का साहित्यिक कद बहुत ऊँचा है और अपने बहुवर्णी विस्तार में उनकी काठी (यशकाया) सुविस्तृत!! कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, आलोचनाइतनी सारी विधाओं में जितने अधिकारपूर्वक उन्होंने निरन्तरता में लिखा है और निरन्तर श्रेष्ठ, वह विस्मित करता है। उनकी प्रथम कविता 1962 में (साप्ताहिक हिन्दुस्तान) में प्रकाशित होती है, प्रथम उपन्यास 1964 में ('बोज्यू') प्रकाशित हुआ और इसी वर्ष 'धर्मयुग' में उनकी पहली कहानी आती है। अब मैं देखता हूँ तो 2008, 2009 और 2010 में उनकी कविताएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं, अक्टूबर 2009 में 'वर्तमान साहित्य' में 'पाँचवाँ हाथ', 'सरकारी खरीद' तथा 'कथा', 'अक्षर पर्व' के फरवरी 2010 अंक में 'आम्रपाली', 'स्त्री सुनती है', 'वापिस उसी किताब में', 'पन्द्रह वर्ष बाद' तथा 'वर्तमान साहित्य' के बिल्कुल ताजा अंक (मई 2010) में 'उसने चुना', 'वह लाया' तथा 'जीवन भर की आग' जैसी

* पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला; सम्पर्क : 63 ए केशर बाग, पटियाला (पंजाब)

बेहतरिन कविताएँ हैं। प्रायः पचास वर्ष तक निरन्तरता में श्रेष्ठ सृजन किसी भी साहित्यकार के लिए स्पृहा का विषय है। मुझे तो ऐसे लोगों से प्रेमभरी 'डाह' होती है और लिखने के लिए नए उत्साह और प्रेरणा का संचरण होता है। सुनीता जैन की 'मेधा' और बौद्धिक व्यक्तित्व भी 'आतंकित' करता है अंग्रेजी भाषा और साहित्य की गहन अध्ययता अंग्रेजी की एक सफल अध्यापक, उसी में पी-एच. डी. की शोध-उपाधि तथा अंग्रेजी में भी बहुप्रशंसित कविताओं का सृजन, संस्कृत साहित्य में भी उतनी ही गहरी पैठ, वेद, उपनिषद् से लेकर महाकवि कालिदास के साहित्य में गहरी डूब और अपने सारे खाद-पानी तथा भाषा-उपकरणों के साथ हिन्दी-कविता, कहानी, उपन्यास के क्षेत्र (खेत) में एक लहलहाती शस्य-श्यामला धरती रच देना उन्होंने यह सब बहुत कुशलता से सम्पन्न कर अपनी शब्द-यात्रा तय की है। आधी सदी तक प्रसारित उनका साहित्यिक प्रदेय एक समुचित मूल्यांकन की माँग करता है।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक रेने वेलेक ने साहित्य के इतिहास की कुछ विसंगतियों की ओर इंगित करते हुए कहा है कि कभी-कभी कुछ प्रवृत्तियाँ या साहित्यकार समुचित रेखांकन-मूल्यांकन नहीं प्राप्त कर पाते हैं, कारण भले ही कुछ रहे हों। सुनीता जैन के कवि के साथ भी कुछ ऐसा ही घटित हुआ। उनकी कविता को व्यापक पाठक समुदाय मिला, विभिन्न विश्वविद्यालयों में उन पर शोध कार्य हुए, कुछ साहित्यिक संस्थाओं ने उन्हें अपने पुरस्कारों से अलंकृत किया, सरकारी स्तर पर उनका सम्मान 'पद्मश्री' की उपाधि से किया गया। किन्तु दिल्ली में समीक्षा के सत्ता केन्द्रों ने उनको उनका समुचित मान, गौरव प्रदान नहीं किया जिसका सीधा प्रभाव यह पड़ा कि कविता की मुख्य समीक्षा-धारा ने उनको गम्भीरता से नहीं लिया; किसी-किसी ने तो उनकी कविता को पूरी तरह नकारते हुए उन्हें कवि मानने से भी इन्कार किया।

समय रहते साहित्य के इतिहास-वृत्त को सही आधार प्रदान करना समीक्षा का दायित्व बनता है। सुनीता जैन ने गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों दृष्टियों से श्रेष्ठ और विपुल साहित्य-रचना की है। चौदह खण्डों में उनके अब तक प्रकाशित हिन्दी साहित्य को प्रस्तुत करने का यह प्रकल्प इसी उद्देश्य की सम्पूर्ति का उपक्रम है। उनका अंग्रेजी में रचित साहित्य अभी भी किसी ऐसे ही प्रयत्न की प्रतीक्षा में है। प्रस्तुत योजना में केवल उनके दो अंग्रेजी अनुवादों को प्रस्तुत किया जा रहा है; महाकवि कालिदास की दो कालजयी कृतियों 'मेघदूत' और 'ऋतु संहार' के अनुवादों को।

सुनीता जैन के बहुआयामी साहित्यिक अवदान की केन्द्रीयता में उनकी कविता ही है; कदाचित् उनके साहित्यकार की प्रकृत भूमि यही है। प्रथम कविता-संग्रह 'हो जाने दो मुक्त' (1978 ई.) से लेकर हाल के वर्षों में 'चौखट पर' व 'उठो माधवी', 'प्रेम में स्त्री' (2006), 'लाल रिबन का फुलवा', 'बारिश में दिल्ली', 'दूसरे दिन',

'फेंटेसी' (2007), 'कुरबक', 'गान्धर्व पर्व', 'तरु-तरु की डाल पर', 'क्षमा' (2008), आदि। उनके संग्रह जिस रूप में आए हैं, वह विस्मित करने के लिए पर्याप्त है। जिस कविता-संग्रह के प्रकाशन की कठिनाइयों का रोना सामान्यतः कवि-वृन्द रो रहे हैं, उस कठिन प्रकाशन-काल में उनके संग्रह निरन्तर और बलपूर्वक कहुँ तो, धड़ाधड़ छपे हैं। उनके काव्यत्व की चर्चा से पूर्व लगभग इन सभी कविता-संग्रहों के विषय में एक बात बलपूर्वक रेखांकित करना चाहूँगा कि अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों से उन्होंने जिस मोहक साज-सज्जा, गैट-अप, में इन पुस्तकों का मुद्रण कराया है, वह किसी भी कवि के लिए स्पृहा का विषय हो सकता है। जिस अध्यवसाय और जिस निष्ठा से देश के प्रतिष्ठित चित्रकारों से उन्होंने चित्र प्राप्त कर प्रकाशन की अनुमति ली, किस प्रकार श्रेष्ठ रेखांकन उन्होंने कुशल चित्तेरों से कराए, उसे मैं व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ। सुन्दर चित्रों तथा रेखांकनों के लिए उनके 'गान्धर्व पर्व', 'दूसरे दिन', 'तरु तरु की डाल पर', 'क्षमा', संग्रह विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं, उम्दा कागज पर सुन्दर मुद्रण के लिए 'दूसरे दिन' तथा 'जाने लड़की पगली' को देखा जा सकता है। बहुत कम कविता-संग्रहों को यह नसीबमयस्सर हो पाता है।

सुनीता जैन का काव्य-संसार पर्याप्त वैविध्य और विस्तृति लिए हुए है, फिर भी प्रेम उनके काव्य की नाभिकीय धुरी है। प्रेम स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के सन्दर्भ में तो विविध उल्लासों-संवेदनों और अपने विभिन्न रंगों में अभिव्यक्ति पाता ही है, यह प्रेम पारिवारिक सम्बन्धों में, अपनी निजता में निराली अभिव्यक्ति पाता है। सुनीता जैन की इस सुदीर्घ काव्य-यात्रा में प्रेमानुभूतियों के विभिन्न पड़ाव भी उम्र के पड़ावों की तरह प्रवहमान सरिता का बोध देते हैं। अपने उद्गम स्थल से निसृत प्रेम की यह रसधार जिन-जिन कूल-किनारों से टकराती हुई पुराने तट-बन्ध छोड़ नए किनारे पाती है, वैसा ही कुछ इन कविताओं में है। प्रारम्भिक दौर की प्रेम कविताएँ, जो 'हो जाने दो मुक्त', 'कौन-सा आकाश', 'रंग रति' आदि संग्रहों में संकलित हैं, यौवन के उद्दाम आवेग और देह-धर्म के यथार्थ की अकुंठ स्वीकृति की कविताएँ हैं। किन्तु यह प्रेम-सरिता यहाँ भी अपने तट-बन्धों को तोड़ती हुई स्थूलता में परिणति नहीं पाती है, अपितु अनेक सुन्दर और सान्द्र बिम्बों में अपनी सरसता में बहती एक *मन्दिर-भाव* का बोध देती है

“बीन-सा

कुहुक उठा रस-धार भीग मन

उमड़ा तन अंगार हो गया।”

मन का बीन-सा कुहुक उठना और तन के अंगार होने में इस रसवन्ती समय की अनन्त किल्लोल-कल्पनाएँ साकार हो उठती हैं। 'रंग रति' में प्रेम के सनातन दिव्य आलम्बनों के मिस अपना यही बौराया मन यूँ फिर इसी अभिव्यक्ति में ढलता है

कान्हा, शिशिर की रात आग
जले शयन आगार
शैया शीतल पल भर पहले
पल-भर में अंगार।

यौवन काल में प्रेम की इस उद्दाम धारा को सरसिज से सरजाते ऐसे ही अछूते
बिम्बों में अभिव्यक्ति मिलती है

सूरज ने जब हाथ लगाया
तन-सरसिज अकुलाया
धीरे-धीरे
पंखुरी-पंखुरी
रंग रति अरुणाया

ऐसा सलिल तुम्हारे सुख का
बहे मेरे अंगों में
प्राण मेरे डूबे ज्यों चुम्बित
तट डूबे धरा में

यहाँ तट धरा में डूब भले ही जाएँ पर उन तट-बन्धों को तोड़ने का उपक्रम
कहीं नहीं दिखाई देता, वे अपने अंगार बने तन की बात भी बड़े संयमित भाव में
बिल्कुल टटके (ताजे) बिम्बों में इस प्रकार सरसता से प्रस्तुत करती हैं कि पाठक मन
भी इस प्रेम के सम्मोहन में उसी भाव से डूबता चला जाता है

कहते जिसको लवंग-लता तुम
तन्वंगी, प्रिय, चारु-शीले,
आकर देखो तन पर उसके
कंटक कितने उगे कँटीलें

चुम्बन-अलिंगनों की प्रगाढ़ता के अनेक सरस-उत्तप्त बिम्ब प्रेम काव्य में मिलते
हैं, किन्तु मात्र दो पंक्तियों में उनकी ऊष्माओं की उदीप्ति की यह अभिव्यक्ति द्रष्टव्य
है

अलिंगन वे दौड़-दौड़कर
आ टकराएँ जैसे दो शर।

‘प्रेम में स्त्री’ संकलन की कविताओं तक आते-आते इन प्रेमावेगों में एक
स्थिरता आती है और प्रौढ़ दार्शनिक चिन्तन से प्रेम-तत्त्व का निरूपण विभिन्न
आसंगों में अभिव्यक्ति पाता है। कविता में प्रेम की घटना घटित होना कवयित्री के

लिए एक अनिर्वचनीय अनुभव है जिसमें आकंठ डूबकर वह प्रेम का सर्वस्व प्राप्त कर
जाती है

प्रेम में स्त्री इतनी पूर्णकाम थी
कि उसे पाना नहीं था कुछ भी
न कहना था किसी से कुछ
क्योंकि वह थीहो रही थी
सर्वांग सुन्दरी, कोमल और
लवलीना।

प्रेम न कोई गणित बिठाता है, न आगा-पीछा सोच योजनाबद्ध तरीके से आगे
बढ़ता है। वह तो बिना किसी कारण-कार्य स्थिति के औचक-सी हो जाने वाली घटना
हैस्त्री और पुरुष दोनों के लिए उतनी ही विस्मयकारी, इतनी चुपके-से जीवन में
छपाक लगाने वाली

तभी एक कविता उतरने लगी आकाश में,
एक गीतमछरी तैर गई सागर में
एक शब्दपाखी फड़फड़ाया वन में,
एक सान्द्र वायु भरने लगी प्राण में
स्त्री ने जाना
और पुरुष ने
कि वे दोनों थे
प्रेम में।

प्रेम में स्त्री-पुरुष के गहनता से डूबने के भाव को कवयित्री ने कभी ‘एक गीत
की स्निग्धता’ तो कभी एक ‘उद्यत पलाश’, तो कभी ‘बच्चों की आतुरता’ के
रोमांच-भाव से मापने का प्रयत्न किया है। किन्तु वह प्रेम है कि अनेक-अनेक बिम्बों
में सृजित होने के बाद भी छूट-छूट जाता है। इस संग्रह की कविताओं तक आते-आते
वे प्रेम में स्त्री की स्वतन्त्र अस्मिता, उसके व्यक्तित्व की निजता और स्त्री-नियति के
प्रश्नों पर भी गम्भीरता से सोचने लगती हैइस दृष्टि से ‘खेल’, ‘बस यही’,
‘नायिका’, ‘क्षमा’, ‘परमेष्ठी’ आदि उनकी विचारणीय कविताएँ हैं। प्रेम में स्त्री को
पुरुष से सदैव एक छल मिला हैकवयित्री बार-बार कितने ही बिम्बों में इस सत्य को
पीड़ा-भरे अहसास से व्यक्त करती है, उनकी प्रेम से दूर तरसती स्त्री पुरुष के
हिसाबी-किताबी मिजाज पर इस प्रकार उदास हो जाती है

स्त्री की इतनी उदग्रता में प्रेम की
पुरुष हो रहा था

होता रहा है
पूर्ण परमेष्ठी।

ये प्रेम कविताएँ स्त्री की व्यथा-कथा कहती अपने ही प्रकार का स्त्री-विमर्श रचती हुई स्त्री-पक्ष को साधिकार प्रस्तुत करती हैं किन्तु बहुत मुखर होकर डंका-पीट स्वर में नहीं, बहुत सरसता और सहज बयानी में। दाम्पत्य के छोटे-छोटे प्रसंगों से उपजे ये स्त्री प्रश्न पुरुष के अहं को खुली चुनौती देते हैं। 'प्रेम युद्ध', 'निशि-प्रसंग', 'बेवजह', जैसी प्रेम कविताएँ प्रत्येक स्त्री का स्वर बनकर अपना उत्तर माँगती हैं

क्योंकि वही उसे दुलार कर कहता है
देखो थक जाओगी।
मुझे तुम्हारी ही तो चिन्ता है
स्त्री सोने की कोशिश में
करवटें बदलती, सोचती हैं...
देख लेंगे कल तुम्हें,
कल भी आएगी रात।

अतृप्त कामकामनालिए पत्नीस्त्री के चित्र जिस संयत अभिव्यक्ति में यहाँ आए हैं, वह बार-बार प्रभावित करता है 'मुहिम' जैसी छोटी-सी कविता बिना कोई शोर मचाए कितनी बड़ी बात कह जाती है

वह सोया है आज
कई रोज के बाद
पास की कुर्सी में बैठी
स्त्री देखती है उसे
गाल पर रख हाथ
स्त्री का यों देखते रहना
सबसे बड़ी मुहिम है
शोर के खिलाफ।

कहानी-उपन्यास में तो यह कथ्य पूर्ण विस्तार और विमर्श में अपनी जगह पाता है किन्तु कदाचित् कविता में उसकी इतनी संयत और कलात्मक अभिव्यक्ति सुनीता जैन की कविताओं में ही है। दाम्पत्य की चख-चख को भी यहाँ काव्यात्मक धरातल मिला है। 'देवता' और 'धरातल' जैसी कविताएँ इस कथ्य की बेहतरीन कविताएँ हैं। यथा 'देवता' की ये पंक्तियाँ कितनी सौम्यता से क्षरित दाम्पत्य को अभिव्यक्त कर जाती हैं

अब वे प्रेम में चमचमाते
देवता नहीं
हैं ठीक पति-पत्नी-सा।

स्त्री-प्रश्नों को और अधिक प्रखरता और सुचिन्तित सोच के साथ अपनी दो लम्बी कविताओं, जिन्हें कवयित्री खंड काव्य कहना पसन्द करती हैपुस्तकों के मुखबन्ध पर भी 'खंड काव्य' लिखा गया है, 'क्षमा' तथा 'गान्धर्व पर्व' में अभिव्यक्ति देती हैं। 'क्षमा' में तुलसीदास और 'रत्नावली' को आमने-सामने प्रस्तुत कर, तो 'गान्धर्व पर्व' में 'शकुन्तला' के प्रसिद्ध आख्यान को आधार बनाकर प्रेम और स्त्री-अस्तित्व के प्रश्नों पर बड़ी गम्भीर दार्शनिक चिन्ता काव्यात्मक संवेदना में प्रस्तुत हुई है। मैं दोनों कृतियों को 'खंड काव्य' न कहकर मात्र लम्बी कविता इसलिए कहना चाहूँगा क्योंकि इनमें खंड काव्य की लक्षणबद्ध परिपाटी की वर्णनात्मकता न होकर आधुनिक जीवन-प्रश्नों से टकराने की आकुलता और प्रेम के सनातन प्रश्नों में डूबकर कुछ खोज पाने की पिपासा है। प्रेम तत्त्व की व्याख्या, उसकी विभिन्न अनुभूतियों का काव्यात्मक आस्वाद से जो अंकन यहाँ हुआ है उसकी आत्मा खंड काव्य की वर्णनात्मकता में अपना प्रवेश नहीं पा सकती, उसका अँटाव वहाँ नहीं हो सकता। शाकुन्तल आख्यान पर आधारित 'गान्धर्व पर्व' में दुष्यन्त-शकुन्तला के गंधर्व विवाह को केन्द्र में रख प्रेम में स्त्री की नियति, उसके रति-रंग, द्वन्द्व आदि का प्रभावी चित्रण है। प्रथम दर्शन आकर्षण और प्रथम सम्बोधन 'शकुन्तले' से लेकर मिलन-क्षणों तक की तन्मयी अनुभूतियों को कुशलता से शब्दों में ढार दिया गया है "वे मेघों से भरे आ रहे थे मुझमें" की सान्द्र अनुभूति के बाद प्राणों में मच रही हलचल "यह भीतर ही भीतर / मथ रहा कुछ / जैसे मथे जा रहे हों प्राण मेरे / आज पहली बार मैंने जाना / नारी होने के / सन्ताप सारे!" इसके साथ ही दुर्निवार आमन्त्रण के पलों की अनुभूति

नहीं, कहा तो कुछ भी नहीं।
बस देखा,
जैसे देखता है वृक्ष नव कुसुमित
हवा को
और कहता है,
आ!
जैसे देखता है मधवा
वृष्टि को
और कहता है,
आ!

जैसे प्राण कहता है
निज श्वास से, नित
आ!

मिलनोत्कंठा को बहुत-बहुत छोटे बिम्बों में (द्र. पृ. 27, 31, 33) जिस कौशल से बुना गया है तथा मिलन-क्षणों को जिन बिम्बों से साक्षात् किया गया है, वह पाठक को काव्यात्मक संवेदन में भिगोता हुआ सहज ही रस-स्नात करा जाता है

अंगों के वाद्यवृन्द में
कोमल स्वर
नए राग का?

.....
एक तृषा
और अपरिचित यह
अनुभूति, डूब की।
.....
वो कहाँ...वो कहाँ?
कहता-सा हर नेत्र त्वचा का।

कवयित्री को महाकवि कालिदास से भी शिकायत है कि उन्होंने शकुन्तला की प्रिय-वियोग-व्यथा को मात्र एक 'नलिनी पत्र' पर लिखी छोटी-सी पाती में ही निपटा दिया

उन्हें नहीं दिखी क्यों
यह ऊहापोह मेरे प्राणों की
दो भागों में चिरती
सारी निजता मेरी?
एक पैर आगे एक पीछे
यही लिखी क्या केवल विधना ने,
नियति नारी की?

शकुन्तला अपनी जननी मेनका से भी सवाल करती है कि

“फिर से इस भूतल पे!
क्यों छोड़ गई माँ मुझको इकला।”

‘गान्धर्व पर्व’ में इसी प्रकार शकुन्तला अनेक स्त्री पक्षधरता के प्रश्नों से रू-ब-रू होती है।

‘क्षमा’ में ‘तुलसीदास’ और ‘रत्नावली’ स्त्री-पुरुष प्रेम, दाम्पत्य प्रेम के अनेक प्रश्न लेकर आमने-सामने हैं तुलसी अपनी प्रिया की पूरी व्यथा-कथा सुनने के लिए, धैर्यपूर्वक सुनने के लिए, तत्पर हैं

नहीं, प्रियाचुप नहीं रहो।
शब्दों को दो अपने वाणी
प्रश्नों की अग्नि ही
शुद्धि करती जीवन को।

रत्नावली के प्रश्न न केवल तुलसीदास से हैं, वे अपने इतिहास और वर्तमान समय दोनों से अपना उत्तर माँग रहे हैं

क्यों लाता बाँध पुरुष नारी को
जो निभा सके न संग?
क्यों निदेश हैं भिन्न पुरुष को
सदाचार के
भिन्न निदेश नारी को?
क्यों कोई भी नहीं व्यवस्था
की समाज या सत्ता ने, संरक्षण हेतु
त्यक्ता, विधवा या पुत्रविहीन स्त्री को?

इसी प्रकार सुनीता जैन का कवि माधवी को महाभारत की धूल झाड़कर उठ खड़े होने के लिए आमन्त्रित करता है कि क्या नारी का अपने तन पर भी कोई अधिकार नहीं। कोई पुरुष जब चाहे उसे जुए के चौसर पर लगा सकता है, जब चाहे 800 श्यामवर्ण अश्वों के बदले उसे दे डाले, गालव ऋषि को वह इस दृष्टि से देखती हुई पूरे आक्रोश में फुफकारती है

पापी था पर संन्यासी वह
कहते हो तुम ऋषि जिसे।
नहीं आठ सौ अश्व जगत में
ज्ञात उसे तो पहले था
चाहिए था यदि तन नारी का
क्यों पर्वत पर जा बैठा।

सुनीता जैन की कविता केवल प्रेम के सीमित अनुभव-वृत्त में ही जाकर नहीं रुक जाती। जीवन और जगत के अन्य सम्बन्ध और व्यापक मानवीय प्रश्न उनकी कविता में चिन्ता के विषय बनते हैं। ‘जाने लड़की पगली’ में माँ-बेटी के सम्बन्ध को जिस मृदुता, गहराई और विवाह के बाद बेटी के पराएपन को जिस टीस के साथ

अभिव्यक्ति मिली है, वह हिन्दी कविता की एक उपलब्धि है। वृद्धावस्था में माँ के बेचारेपन और तन-मन से विवशता को देखकर भी पराई हुई बेटी जिस प्रकार असहाय और विवश उसकी पीड़ा की सहभागी बनती है, उस सबकी मार्मिक अभिव्यक्ति 'माँ' से सम्बन्धित इन कविताओं में मिलती है। साथ ही माँ का यह रूप एक परिवार की सीमाओं से निकलकर पूरे भारतीय परिवृश्य में अपनी उपस्थिति इसी रूप में पाता है

जिस माँ ने कभी कुछ नहीं कहा
किसी से, तब भी नहीं, जब छोटी
भाभी ने भी उनका
चूल्हा अलग किया,
उसी माँ ने कहा उस दिन वक्ष चीरकर...
'अरे, इस पेट में पसरने को
जगह मिल गई जिन सात को
उसी पेट में रोटी डालने
वक्त नहीं किसी एक को,
नोट भिजवा देते हैं सारे
जैसे नोट चबा लूँ
जगह अनाज के...।

पीहर में एक प्रकार का बेगानापन, सम्बन्धों की ऊष्मा क्षरित होने का भाव हर बेटी ने भोगा होगा, किन्तु पूरी हिन्दी कविता में इस पीड़ा को शब्द यहीं मिल पाए

इतने सारे लोग यहाँ
इतने सब सम्बन्ध
एक तुम्हारे
न होने से,
हैं सब रस्ते
बन्द।

वस्तुतः इन सब कविताओं में स्वर्गस्थ खोई माँ को पुनः-पुनः पा लेने की असम्भव आर्त पुकार है जो भीतर का आर्तनाद बनकर पाठक के हृदय में एक हूक-सी छोड़ती है। इसी प्रकार वृद्ध और वृद्धावस्था पर लिखी गई उनकी कविताएँ पूरे भारतीय समाज की टूटती पारिवारिक परम्पराओं और क्षरित होती संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली पर कवि-मन की वेदना को व्यक्त करती हैं

सभी झेल रहे हैं
अपने ये दिन दुखते,

घुटने, कूल्हे या दुखते जी, वाले
कहीं नहीं वे बच्चे
बड़ा किया था जिन्हें
हुलस के।

'शाम', 'बूढ़े हैरान हैं', 'पोती के नाम पत्र', 'फर्ज' आदि इसी कथ्य पर बड़ी मार्मिक कविताएँ हैं। 'कंगूरे' और 'गंध नीम' अपने वार्धक्य से थके कवि-मन की व्यथा को उकेरती बड़ी सुन्दर कविताएँ बन पड़ी हैं।

सुनीता जैन के काव्यवधु की यह चर्चा अधूरी ही रह जाएगी यदि यहाँ उनके साहित्य में पूरी तरह अलक्षित-अचर्चित शोकगीति 'दूसरे दिन' का यत्किंचित् उल्लेख न किया जाए। 'सोग' (शोक) के पूरी तरह मातमी लिवास में काले कागज पर श्वेत अक्षरों में नयनाभिराम रूप में मुद्रित हिन्दी की यह अद्वितीय शोक गीति पाठक-मन को भीतर तक भिगो देती है। सात तालों में बन्द प्रिय की स्मृति का यह साहसिक (बोल्ड) स्वीकार, जो सुनीता जैन की प्रवृत्ति में नहीं है, सारी सामाजिक इतियों-भीतियों का तर्ज जिस अकुंठ भाव से यहाँ हुआ है, यह कैसा अनूठा प्रेम है

जब तक लौटी परदेस से,
आए उसके कई सन्देशे
संदेशों की कापी में
कई तिथि थी नाम उसके

जिस 'बंद मुट्ठी' को एक पछतावे के साथ वे यहाँ खोलती हैं, वह भारतीय पारिवारिक मर्यादाओं में कितना संयत और पूरी तरह अप्राप्य बन कर सदैव एक सम्बल रहा, अपने प्रयास पर प्रिय की वे सारी स्मृतियाँ कवयित्री को आलोड़ित-विलोड़ित करती हैं

जब तक वह जिया
सबको दिया
यहाँ की अटूट भक्ति,
पितृऋण पिता का,
बच्चों को दिशा दी
पत्नी को घर
एकनिष्ठता का
अपने अन्तिम दिनों
मुझे भी देना चाहा
जो वह दे सकता था
आश्वासन अगले जन्म का

आज सारी तोड़ सीमा
कहने दो यह बात, कविता
प्राणों में वह प्राण था
थी जिसकी मैं प्राणवल्लभा

उस ऐसे अनोखे प्रिय को उसकी प्राण-वल्लभा जिस रूप में अन्तिम शब्दश्रद्धा-
सुमन अर्पित करती है, उनकी महक से भी परिचित होना काव्यात्मक आस्वाद की
एक अनुभूति है

जिन पैरों तक हाथ नहीं पहुँचा मेरा
उन पैरों की सुधि में सिर रख
आज मैं करती विदा
करती विदा।

इस कलात्मक शोक-गीति के साथ शिशिर साहना जैसे प्रसिद्ध चित्रकार के
चित्रों की प्रतिकृतियाँ इस कृति के गौरव में और भी अभिवृद्धि कर देती हैं जिनमें
'शोकाकुल हृदयतंत्री बजती सुनाई' देती है।

सुनीता जैन की बाद की कविताओं के सरोकार बहुत व्यापक हो उठे हैं
जिसका साक्ष्य 'कुरबक' की कविताएँ हैं जहाँ निठारी जैसे जघन्य कांड पर दो
कविताएँ हैं, दिल्ली में रहते हुए अपने चतुर्विध फैले वातावरण की प्रदूषित स्थितियों
पर आक्रोश भाव है 'दिल्ली डायरी-1', दिल्ली-डायरी-2', 'नारी मुक्ति-1,
'नारी-मुक्ति-2', जैसी प्रखर कविताएँ हैं और 'गाती रहना चिड़िया' में इन स्थितियों
को उलट देने का संकल्पवान स्वर है। उसका कवि परम्परा तथा युगबोध को
साथ-साथ जीता हुआ, काव्य-रूपों के क्षेत्र में भी नए-नए प्रयोगों का अन्वेषी रहा है।
न यह केवल खण्ड-काव्य के पारम्परिक ढाँचे को तोड़ती है, 'दोहे' जैसे छन्द को ('तरु
तरु की डाल पर') पारम्परिकता से मुक्त कर युग की विसंगतियों और विद्रूप को
उघाड़ने का माध्यम बना देती हैं

बेटा गया विदेस को बीते बारह साल।
खाट पकड़ ली बाप ने, माँ न पूछो हाल।।
बेटा आया न कभी, काम पड़े थे बीस।
खाली घर माँ रो रही, हाथ पे रखे सीस।।
लड़की तब से कर रही, माँ की देख सँभाल।
लेकिन माँ न पूछती,कैसी तू ससुराल।।
लड़की माँ को न दिखे, खड़ी हुई थी पास।
बेटा बेटा कर रही, छूट चली जब साँस।।

वस्तुतः सुनीता जैन की कविता एक साथ ही प्रेम की सान्द्र अनुभूतियों का
अनूठा संसार और सम्भार, अपनी प्रखर बौद्धिकता में आधुनिक सोच, युग-प्रश्नों से
मुठभेड़ करने का मनोबल और हृदय की अतल गहराइयों को संस्पर्श करने वाली
भाषा सामर्थ्य और काव्यात्मक सम्वेदन लिए हुए हिन्दी काव्य को एक समृद्धि, अपने
तरह की सम्पन्नता और सम्पदा प्रदान करती हैं।

सुनीता जैन का कथा-साहित्य भी 5-5 उपन्यासों और 6-7 कहानी-संग्रहों की
विस्तृति में फैला हुआ है। उन्होंने गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों ही रूपों में हिन्दी
कथा-साहित्य को समृद्धि प्रदान की है। उनके उपन्यास अपने स्त्री-वृत्त के ही
उपन्यास हैं, जिनमें स्त्री को केन्द्र में रख सामाजिक स्थितियों का विश्लेषण हैं,
कहीं-कहीं वे आत्मपरक भी होकर रह गए हैं। उनकी कहानी स्त्री-मन की व्यथा-कथा
कहकर भी अपनी सामाजिक स्थितियों के विद्रूप पर एक प्रतिरोधी स्वर सार्थक रूप
में रचती हैं। मैं उनके साहित्य का पाठक उनकी कहानियों से ही बना। आज तक
उनकी 1978 में 'सारिका' में प्रकाशित 'किधर' कहानी स्मृति में उसी रूप में
रची-बसी हुई है। इससे प्रभावित होकर मैंने 'महिला कहानीकार : प्रतिनिधि कहानियाँ
(1999 ई.) में उसे संकलित किया था। अमेरिकी धरती पर पति-पत्नी के सम्बन्धों में
दूसरी स्त्री की उपस्थिति से विचलित हो अपने एकाकीपन के दंश से पीड़ित नायिका
अपनी माँ के पास दोनों बच्चों को लेकर आ जाती है किन्तु उसी पति नामक जिन्स
के बिना माँ के घर में जो उसे अस्वागत भाव और एकाकीपन मिलता है, शीघ्र ही
उससे निजात पाना चाहती है। सोने से पहले जब बेटी शानू आग्रह करती है कि
"मम्मी यहाँ से चलो न" तो एक ही यक्ष प्रश्न उसके सामने है "किधर... किधर?..
. किधर।" इंडिया के बाथरूम तक को बच्चों को स्वीकार न कर पाना, दुःखी होकर
रेवा को यह अन्तर्द्वन्द्व मथता है कि इस सब स्थिति के लिए दोषी कौन है, वह या
उसका पति जगदीश??? किन्तु स्थितियों से निपटने का दृढ़ संकल्प रेवा को अमेरिका
लौटने के निर्णय पर पहुँचाता है। बिना किसी घोषित स्त्रीवाद के रेवा अपनी लड़ाई
खुद लड़ने का संकल्प लेकर देर तक स्मृति में बसने वाला पात्र बन जाती है। उनकी
'कमाई', 'काली रूपा', 'कीमत' जैसी बेहतरीन कहानियाँ भारतीयों के अमेरिकी
जीवन के कटु यथार्थ को बड़े सूक्ष्म और प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करती हैं। इस
कहानी-चर्चा को विराम देने से पूर्व हाल के वर्षों में प्रकाशित उनकी एक कहानी
(शीर्षक जिसका इस समय स्मरण में नहीं है और कहानी कहीं रखी जाकर फिलहाल
गुम है) की चर्चा का लोभ-संवरण नहीं हो पा रहा है। यह कहानी बड़े सूक्ष्म रूप में
भूमंडलीय अपसंस्कृति के उस पक्ष की ओर ध्यान दिलाती है जिसमें टी.वी. के
'रीयल्टी शोज' में छोटी आयु के बच्चों को किस प्रकार बाजारवाद के तहत अपनी
'आमदनी' बढ़ाने का साधन बनाया जाता है, विदेश में सरकार शैशव की सुरक्षा के
प्रति किस प्रकार सचेत है और कैसी कानूनी कार्यवाही चैनल और माँ-बाप के खिलाफ

की जा सकती है, यह सब बड़ी सूक्ष्मता से यहाँ चित्रित हुआ है। यह कहानी अपसंस्कृति के समय में सार्थक ढंग से हस्तक्षेप करती है। इस प्रकार हिन्दी कहानी की श्रीवृद्धि में उन्होंने अपने ढंग से योगदान किया है।

शब्द की इस जैन साधिका ने जिस रूप में अपनी साहित्यिक यात्रा तय की है, उसका आत्म-विवरण उन्होंने बहुत ईमानदारी से अपनी 'शब्दकाया' शीर्षक आत्मकथा में दिए हैं। यद्यपि सुनीता जैन 'शब्दकाया' को 'आत्मकथा' के रूप में ही प्रकाशित कराती हैं किन्तु व्यवस्थित रूप से प्रारम्भ से लेकर अब तक की आत्मकथा यह नहीं है, वह एक प्रकार से अपने जीवन से आठ मार्मिक प्रसंगों को प्रस्तुत करती है, आठ प्रसंग और नौवा वह 'वह दिल्ली' संस्मरण उनके वैवाहिक जीवन के बाद शिक्षा अर्जित कर शोध, अध्यापन और अक्षर जगत् में उतरने की संघर्ष कथा प्रस्तुत करती हुई उनके साहित्यकार की बनतर से परिचित कराती है। यहाँ न स्वयं को महिमामंडित करने की बेकली है, न समकालीनों को किसी भी प्रकार से अवमूल्यित करने का प्रयत्न। 'शब्दकाया' को पढ़कर यह अवश्य अनुभव होता है कि किस प्रकार एक जीवत वाली स्त्री लगभग 'अथ' से प्रारम्भ कर शिक्षा-क्षेत्र और साहित्य संसार में उन ऊँचाइयों तक पहुँची है। कदाचित् एक मुक्कमिल आत्म-कथा का यह पूर्वांश हो!

राष्ट्रीयता का अभाव

धर्मदेव तिवारी 'शास्त्री'*

भारतवर्ष को स्वतंत्रता प्राप्त हुए तिरसठ वर्ष हो रहे हैं, पर हममें आज भी भारतीयता पूरी तरह से नहीं आई है। इसी सन्दर्भ में हम अपनी संस्कृति को भी सुरक्षित नहीं रख सके। 15 अगस्त 1947 के पूर्व हम अपने देश के प्रति तथा अपनी संस्कृति के प्रति पूर्णतः सजग और समर्पित थे। आज उसमें तेजी से गिरावट आई है। हमारे पूर्वजों ने आजादी के पूर्व जिन वस्तुओं का बहिष्कार किया था और उसकी होली जलाई थी, आजादी के बाद उन्हें ही अपने पास संग्रह करने में हम अपने को गौरवान्वित बोध करते हैं और समाज में सर्वाधिक प्रतिष्ठा अर्जित करते हैं। इस प्रकार हम पूर्वजों के अरमानों को धूल-धूसरित करने में तल्लीन हो गए हैं। जो संतान अपने पूर्वजों की आशा को विफल करती है वह अत्यन्त नालायक सन्तान मानी जाती है। क्या हम अपने स्वतन्त्रता सेनानी पूर्वजों की इच्छाओं को विफल नहीं कर रहे हैं? क्या अपनी संस्कृति को हम धूल-धूसरित नहीं कर रहे हैं? क्या हम अपनी वस्तुओं को, अपनी माँ को घृणा भाव से नहीं देखते और यूरोपीय वस्तुओं तथा यूरोपीय माँ को आदर भाव से नहीं देखते? सच तो यह है कि हम यूरोपीय वस्तुओं और भाषा को जो सम्मान देते हैं, वह अपनी वस्तुओं तथा भाषा को नहीं। इस प्रकार भारत माता के प्रति जो हमारा कर्तव्य होना चाहिए था, वह नहीं है, उसका सर्वथा अभाव है। यही अपने शहीद पूर्वजों के प्रति हमारी गद्दारी है। हम अपने घावों को बहुत जल्द भूल गए और झूठी चकाचौंध में गुम हो गए हैं। ऐसी स्थिति में हमारी संस्कृति कैसे सुरक्षित रह सकती है? जिस प्रकार कौआ हंस की चाल चलने पर हंस नहीं हो सकता या मोर का पंख लगा लेने से मोर नहीं हो सकता, उसी प्रकार हम अपनी संस्कृति-भाषा को भूलकर यूरोपीय संस्कृति-भाषा को अपनाकर यूरोपीय नहीं हो सकते, बल्कि हम केवल हास्य पदार्थ जोकर बन सकते हैं, अपितु बन भी गए हैं।

* डॉ. धर्मदेव तिवारी 'शास्त्री' आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कॉटन कॉलेज एवं गुवाहाटी विश्वविद्यालय, तथा अतिथि आचार्य, हिन्दी विभाग, अरुणाचल विश्वविद्यालय, ईटानगर।

हैं, हम अपनी मोटी बुद्धि-चमड़ी के कारण न तो उसे महसूस और न चोट की पीड़ा का बोध कर सकते हैं। यही हमारी सबसे बड़ी विडम्बना है।

जिस देश को चिर काल तक गुलाम बना कर रखना हो, उसके लिए तीन काम करना चाहिए :

- (1) उसकी प्राचीन धरोहर को कपोल-कल्पित कह कर नकार देना चाहिए,
- (2) उसकी शिक्षा-पद्धति को अपने अनुकूल बनाना चाहिए।
- (3) प्रचार तन्त्र पर हावी हो जाना चाहिए।

अंग्रेजों ने उक्त तीनों काम किए। उसने विश्व की सर्वाधिक समृद्ध-उन्नत संस्कृत भाषा को तथा उसमें निहित समस्त निधि को कपोल-कल्पित कहकर उसे पढ़ाना बन्द कर दिया, जिसे हमने भी पढ़ाना बन्द कर दिया। जिस भाषा में चरक, सुश्रुत जैसे चिकित्सकीय ग्रन्थ हों और जहाँ धन्वन्तरि-सुखेन जैसे चिकित्सक रहे हों, जिस देश में नल-नील जैसे अभियन्ता रहे हों, जिस भाषा में वायुयान (पुष्पक विमान) और दूरदर्शन-निर्माण (संजय को प्राप्त दिव्यदृष्टि) की विधि रही हो, जिस देश में राम-कृष्ण जैसे विश्व नेता का आविर्भाव हुआ हो, जिस भाषा में हमारे आदर्श-पुरुषों का पर्याप्त विवरण रहा हो, जिस भाषा का साहित्य विश्व की विद्वत्पण्डली में समादृत होता हो, उसे अप्रामाणिक बताकर हमें गुमराह करना अंग्रेजों की कूटनीति थी और हमने उसकी हाँ में हाँ मिला दिया।

मेकाले ने यहाँ नवीन शिक्षा-पद्धति चलाई। यह सर्वविदित सिद्धान्त है कि कोई भी व्यक्ति अपने लाभ के लिए काम करता है। अंग्रेजों को हमारे ऊपर शासन करने के लिए भाषा की आवश्यकता थी। इसीलिए उसने हमें अंग्रेजी पढ़ाना आरम्भ किया और अर्थकारी बना दिया। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को अच्छे पदों पर नियुक्ति मिलने लगी। स्वभावतः अंग्रेजी के प्रति हमारा झुकाव हुआ। धीरे-धीरे हमारे मन-मस्तिष्क में यह बैठा दिया गया कि अंग्रेजी में विश्व का समस्त ज्ञान छिपा हुआ है और हम सम्मोहित हो उसके प्रति आदर-भाव दिखलाने लगे। मेकाले अपनी इस सफलता पर हर्षातिरेक से आत्मविभोर हो गया। उसने इंग्लैंड पत्र लिखा कि अब हम भारत पर चिरकाल तक शासन करते रहेंगे। सच तो यह है कि यदि वह अपना लोभ संवरण कर आर्थिक नीति में सुधार करता तथा शोषण की नीति से दूर रहता, तो हम कभी भी उसके विरुद्ध न तो आन्दोलन करते और न उसे भारत छोड़ने के लिए मजबूर करते। आज वे शारीरिक रूप से हमारे बीच नहीं हैं, पर मानसिक रूप से उपस्थित हैं, क्योंकि हमारा आचरण तदनुकूल है। इसे प्रमाणित करने के लिए हम अपने सम्बन्धवाची शब्दों को उदाहृत कर सकते हैं, यानी हम आज माता-पिता, भाई-बाबूजी, चाचा-चाची को छोड़कर अंग्रेजों के सम्बन्धवाची शब्दों का प्रयोग करते हैं। हम शुक्ल, मिश्र, गुप्त आदि उपाधियों को अंग्रेजों के अनुसार शुक्ला, मिश्रा,

गुप्ता आदि का प्रयोग करते हैं। हमारे आदर्श राम>रामा, कृष्ण>कृष्णा हो गए। अशोक>अशोका, मौर्य>मौर्या, विद्यालय>विद्यालया, केरल>केरला इत्यादि अनेकानेक शब्द हैं, जिनका हम अशुद्ध प्रयोग कर अपने को अभिजात्य मानते हैं। स्वभाषा बोलने वाला भारतीय गँवार, असभ्य समझा जाता है और अशुद्ध अंग्रेजी बोलने पर भी वह आदर सम्मान का पात्र हो जाता है। आने वाली पीढ़ी विशेषकर हिन्दी प्रान्तों के लोग अपने मूल सम्बन्धवाची शब्द भूल जाएँगे। आज भी कतिपय परिवार हैं, जिनके बच्चे बाबूजी/पिताजी आदि शब्दों से पूरी तरह अपरिचित हैं। हिन्दीतर प्रान्तों की स्थिति अस्सी प्रतिशत ठीक है, जहाँ अपनी भाषा के प्रति लगाव है। हमारे चलचित्रों ने कथित हिन्दी को संवर्धित करने में प्रशंसनीय काम किया है, किन्तु पात्र-परिचय आदि रोमन लिपि अंग्रेजी में देते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि देवनागरी लिपि से देश अपरिचित है, किन्तु प्रादेशिक चलचित्रों के पात्र आदि का परिचय दिया जाता है, वह तत्-तत् लिपि में, भाषा में। रोमन लिपि या अंग्रेजी का प्रयोग करने वाला यह मानता है कि भारत की शत-प्रतिशत जनता रोमन लिपि जानती है, अंग्रेजी जानती है। यह कितना भ्रम है, बताने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि भारत में अंग्रेजी जानने वालों की संख्या दो-तीन प्रतिशत है। एक तरफ यह ऐलान किया जाता है कि हिन्दी किसी पर जोर-जबर्दस्ती थोपी नहीं जाएगी और अंग्रेजी तथा रोमन लिपि के बढ़ते प्रयोग से छद्म रूप से अंग्रेज का गुलाम पूरे देश को मानसिक रूप से हम बनाते जा रहे हैं। सच तो यह है कि देवनागरी संस्कृत की लिपि रहने के कारण पूरा देश उससे भली-भाँति परिचित है, पर अंग्रेजों का हमारे प्रचार तन्त्र पर दबदबा बना हुआ है। इसलिए प्रचार के दोनों तन्त्र वाचन-प्रकाशन पर अंग्रेजों का वर्चस्व बरकरार है। वह सीधे नहीं होने के कारण हम बोध नहीं कर पाते, पर अपने पालित दलालों द्वारा वे काम करवा रहे हैं। इसी अर्थ में हम में आज भारतीयता का अभाव है।

जिस देश में नागरिक अपने देश के प्रति समर्पित नहीं होंगे, उस देश की स्थिति अत्यन्त दयनीय होती जाती है। हम अपनी सम्पत्ति की वृद्धि में अनवरत तत्पर रहते हैं। उसके लिए हम किसी भी प्रकार के साधन को ग्रहण कर सकते हैं। हम केवल साध्य देखते हैं, साधन नहीं। अपने साध्य की पूर्ति के लिए चोरी-चपाटी, घूसखोरी, हत्या आदि हर तरह के काम कर सकते हैं। हम इसके लिए भाई से, पड़ोसी से, देश से गद्दारी करते हैं। देश भले ही खोखला हो, पर हमारी तिजोरी भरनी चाहिए। दवा से लेकर खाद्य सामग्री तक सभी वस्तुओं में जो मिलावट पाई जाती है, वह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। ऐसे भ्रष्ट नागरिक को नागरिक कहलाने का अधिकार नहीं है, पर खेद है कि प्रजातंत्र में सब कुछ जायज है।

आज प्रकाशन प्रचार तन्त्र (प्रिण्ट मीडिया) हिन्दी भाषा को भ्रष्ट करने का संकल्प लेकर काम कर रहा है। कभी हिन्दी भाषा सुधारने के लिए दैनिक समाचार-पत्र

एवं पत्रिका पढ़ने पर अध्यापक जोर देते थे। आज यदि भाषा भ्रष्ट करनी हो तो दैनिक समाचार पत्र आदि पढ़ना ठीक है। उसकी भाषा या वर्तनी को हमें मानक नहीं मानना चाहिए। मुझे लगता है कि अंग्रेजों के दलालों के कारण दैनिक समाचार पत्रों की भाषा को जान-बूझकर सम्पादक वृन्द भ्रष्ट कर रहे हैं और हिन्दी की वर्तनी को नष्ट कर रहे हैं। उनके ज्ञान पर अविश्वास नहीं किया जा सकता, केवल उनकी नीयत पर अविश्वास किया जा सकता है। हिन्दी का हर पाठक जानता है कि चन्द्रबिन्दु और अनुस्वार के कारण कई शब्दों के अर्थ में भेद होता है। यथाहंस-हँस, अंगना-अँगना इत्यादि। प्रकाशन प्रचार तन्त्र ने चन्द्र बिन्दु का व्यवहार करना बन्द कर दिया है, जिसका अनुकरण बढ़ता जा रहा है। लगता है भविष्य में भारतीय जनता हँस नहीं पाएगी, केवल अनाचारों, अत्याचारों के समक्ष घुटने टेक कर रोने के अतिरिक्त दूसरा रास्ता नहीं रहेगा अथवा हंस की तरह पंख फड़फड़ाती रहेगी, वह किसी भी तरह आनन्द भोग नहीं कर सकती। हिन्दी का हर पाठक जानता है कि अनुस्वारचन्द्रबिन्दु के उच्चारण में भी भिन्नता है। गाँव, आँख, पाँच आदि शब्दों को यदि गाँव, आँख, पाँच लिखा जाएगा, तो उनका उच्चारण क्या होगा? यह कोई भी भाषा वैज्ञानिक गाँव आदि की तरह उच्चारण नहीं कर सकता।

आज प्रचार तन्त्र महत्व, महत्ता, सत्त्व, सत्ता, तत्त्व आदि शब्दों में एक 'त्' लिखने लगा है, जिसे मानक मानकर बिना सोचे भेंड़ियाधसान की तरह अन्य हिन्दी के लेखक उसके अनुकरण पर महत्व, महत्ता, सत्त्व, सत्ता तत्त्व जैसी वर्तनी लिखने लगे हैं। इस तरह की वर्तनी ग्रहण करने के पीछे संभवतः कर्म, धर्म आदि के स्थान पर कर्म, धर्म, जैसी वर्तनी स्वीकार करना कारण है। यदि है तो उन विद्वान लेखकों को यह जान लेना चाहिए कि रेफ के बाद के व्यंजन वर्ण का विकल्प से द्वित्व होता है। इस नियम के कारण कर्म>कर्म, धर्म>धर्म दोनों रूप साधु हैं। सरलता की दृष्टि से कर्म आदि एक व्यंजन वाली वर्तनी ग्रहण की गई, किन्तु महत्व आदि दो तकार वाले शब्दों के साथ ऐसा कुछ भी नियम नहीं है। वहाँ प्रकृति-प्रत्यय के आधार पद दो तकार लिखना साधु है न कि एक तकार। एक तकार वाले महत्व, सत्त्व, तत्त्व, आदि शब्दों की प्रकृति क्या होगी? मह+त्व, स+त्व, त+त्व क्या किसी भी भारतीय वांगमय के विद्वान को उक्त प्रकृति स्वीकार होगी? असमिया, बंगला, उड़िया आदि भाषाओं में उक्त शब्दों की वर्तनी त्+त संयुक्त लिखी जाती है। इस प्रकार हिन्दी तथा हिन्दी भाषियों के लिए एक तकार वाली वर्तनी असह्य, अपच हो जाएगी। आज हिन्दी विश्व मंच पर अग्रसर है। विश्व के तथा भारत के हिन्दीतर प्रान्तों में सैकड़ों विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ाई-लिखी जा रही है। उनके समक्ष यह बेतुकी वर्तनी जब आती है, तो वे बौखला उठते हैं। इस पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है और प्रचार तन्त्र ने हिन्दी की वर्तनी में जो अनाचार फैलाई है, उसे तत्काल बन्द करने का उपाय खोजना चाहिए।

प्रचार तन्त्र की अनाचारिता-दुराचारिता का सबसे अच्छा नमूना हैहुई और गई जैसी वर्तनी प्रचारित करना। हिन्दी का नियम है कि पुलिंग से स्त्रीलिंग बनाने के लिए सामान्यतः ई और बहुवचन बनाने के लिए ए प्रत्यय मूल शब्द में जोड़े जाते हैं, जिससे पढ़ा+ई= पढ़ी, पढ़ा+ए=पढ़े, गया+ई=गयी, गया+ए= गये इत्यादि। यदि पढ़ी, पढ़े, चली, चले इत्यादि में टू या लू का लोप नहीं होता है तो, गया के यू का लोप क्यों? व्याकरण का यह व्यभिचारी कानून काला नियम-सा प्रतीत होता है। यही स्थिति समाज की भी हो गई है। किसी व्यक्ति के लिए एक नियम और दूसरे व्यक्ति के लिए दूसरा नियम लागू होता है। यदि हम शब्द के साथ अनाचार करेंगे, तो समाज में अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार फैलेगा। आज शब्दों पर नियन्त्रण नहीं रहने के कारण समाज पर भी नियन्त्रण नहीं है और विभिन्न आतंकवादी संगठन आतंक फैलाए हुए हैं। यह स्वीकार किया गया है कि शब्द ब्रह्म होता है। जिस देश में ब्रह्म की पूजा होती है, उस देश में यदि शब्दों के साथ दुराचार किया जाएगा तो वह देश न तो शान्त रह सकता है और न उसे सुख-सुविधा मिल सकती है। जिस नियम से चली-चले उसी नियम से गयी-गये। इसके विपरीत आज प्रकाशन तन्त्र (प्रिंट मीडिया) हुआ से हुयी शब्द का निर्माण कर अपनी अज्ञान का परिचय दे रहा है। वस्तुतः वे अज्ञान के कारण ऐसा नहीं कर रहे हैं, बल्कि हिन्दी को बरबाद करने वाले विदेशियों की दलाली कर रहे हैं। वे अपने ईमान को विदेशियों के हाथों बेचकर आम भारतीय के अरमानों से खेल रहे हैं और हमारे जेहन में धीरे-धीरे जहर उतार रहे हैं। यदि समय रहते हम सचेत नहीं हुए तो हमें अपनी भाषा-लिपि से हाथ धोना पड़ेगा।

आज न केवल भारतीय भाषाओं को हेय दृष्टि से देखा जाता है, बल्कि भारतीय लिपियाँ खासकर देवनागरी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि का बोल-बाला हो गया है। भारतीय उद्योग धंधों का जो विज्ञापन आता है, उसकी अंग्रेजी भाषा तो रहती ही है, जिस विज्ञापन की भाषा हिन्दी रहती है, उसे भी देवनागरी लिपि में न लिखकर रोमन लिपि में लिखा जाता है। बाजार में बिकने वाली चीजों पर रोमन लिपि में नाम आदि लिखा रहता है। लगता है भारतीय जनता केवल रोमन लिपि को पहचानती है। यह भ्रम नहीं बल्कि रोमन लिपि, अंग्रेजी भाषा के दलाल भारतीय संस्कृति-सभ्यता को विदेशियों के हाथों बेचकर उनकी भाषा लिपि का प्रचार कर रहे हैं। सच तो यह है कि देवनागरी लिपि से सम्पूर्ण भारत परिचित है, क्योंकि वह संस्कृत की लिपि रही है, जिससे देश का हर अंचल परिचित है। देवनागरी विश्व की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है। उसकी वैज्ञानिकता के स्थान पर अवैज्ञानिक लिपि को ग्रहण करना बुद्धिमत्ता पर कुठाराघात है। यह केवल अंग्रेजों के दलालों का ही काम हो सकता है, किसी देशभक्त का नहीं। देशभक्त देश की हर चीज से प्यार करते हैं और उसकी रक्षा के लिए अपने अस्तित्व को मिटा देते हैं। राष्ट्र भक्त राष्ट्र के सच्चे सन्तान होते हैं। जिस तरह सुसंस्कृत सन्तान अपने माता-पिता की सेवा में

रत रहती है और उसकी मर्यादा-प्रतिष्ठा की रक्षा करती है, उसी तरह राष्ट्र भक्त राष्ट्र के सम्मान की रक्षा के लिए शहीद हो जाता है। भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद आदि 15 अगस्त 1947 के पूर्व के हमारे स्वतन्त्रता सेनानी इसी कोटि की भारत माता की सन्तान हैं, जिनकी कुर्बानी को हम पलक मारते भूल गए हैं और हम भारत माता के प्रति प्रतिपल गद्दारी करते हैं। जो देश अपनी भाषा-संस्कृति की रक्षा करता है, वह समुन्नत तथा विश्व मंच पर महाशक्ति माना जाता है।

इतिहास साक्षी है कि राष्ट्र द्रोहियों, दलालों, विदेशी लोगों के प्रति सहानुभूति रखने वालों के कारण हमारे इतिहास की हत्या धोखे से की गई और हमें गुलाम बनाकर हमारे ऊपर हर तरह से अत्याचार किए गए और हमारी सम्पत्ति लूट कर हमें आर्थिक दृष्टि से खोखला बना दिया गया। उन्हीं देशद्रोहियों का आज भी बोलबाला है, जिससे भारतीय समाज पूर्णतः अनभिज्ञ है और धीरे-धीरे जहर पीता जा रहा है। इस तरह देश खोखला होता जा रहा है और प्रतिदिन गुलामी के मार्ग पर एक कदम आगे की ओर बढ़ता जा रहा है। इस तरह के नकाबपोश, मुखौटे पहने लोगों को समाज अत्यन्त प्रतिष्ठित मानता है और सम्मान देता है। इसलिए वे बेखबर होकर दलाली करते हुए देश विरोधी कार्यों में संलग्न हैं, जो आतकियों, माओवादियों, नक्सलियों से अत्यधिक खतरनाक हैं, क्योंकि हम इनकी चाल को पहचान नहीं पा रहे हैं। अतः उनके विरुद्ध न तो कोई आवाज उठती है और न कोई कानूनी कार्रवाई। ऐसे आस्तीन के साँप हमें हर तरह से नष्ट करते जा रहे हैं। वे ही हमारी भाषा-लिपि, संस्कृति पर हावी हो गए हैं और अंग्रेजों के अनुकूल कार्य में लिप्त हैं।

स्वतन्त्रता के बाद अंग्रेजी भाषा और रोमन लिपि के प्रचार-प्रसार में वृद्धि दर्ज हुई है। जिसके लिए रोज नए-नए रूपों में अंग्रेजी संबर्द्धन के प्रति लोग जागरूक होते जा रहे हैं और अपने को आधुनिक बोध, सभ्य समाज में परिगणित करने में दत्तचित्त हैं। आज सड़क के किनारे बैठकर अपना रोजगार चलाने वाला व्यक्ति भी रोमन लिपि में ही कुछ भी लिखने में अपने को गौरवान्वित मानता है। इस तरह की मानसिकता पूरे देश के लोगों के बीच स्थापित करने में दलालों को अभूतपूर्व सफलता मिल गई है। इस क्रिया-कलाप से हमारी सरकार भी बेखबर है, क्योंकि वह देश की लिपि, भाषा, संस्कृति पर गहराई से नहीं सोचती है। यदि उसका इनके प्रति सकारात्मक रुख रहता, तो आज तिरसठ वर्ष में भारत का हर व्यक्ति अपने देश के प्रति ईमानदार रहता, और वह अपनी भाषा-संस्कृति के प्रति सजग रहता, पर ऐसा नहीं हुआ, बल्कि हमारे प्रतिनिधि विधायक, सांसद आदि देश के प्रतिनिधिगण चुनाव जीतने के बाद पाश्चात्य रंग में रंग जाते हैं, वे भारतीयता भूलने का स्वांग करने लगते हैं और अपने परिवार को तथाकथित आधुनिक सभ्यता में ला देते हैं। उनका बच्चा ABCD---Y का मुँहताज हो जाता है। ऐसे जन प्रतिनिधियों से क्या शिक्षा ग्रहण की

जाएगी। वे अंग्रेजी-परस्त हो जाते हैं और अंग्रेजी-परस्त लोग हमारे ऊपर अंग्रेजी थोपने में दत्तचित्त हैं, जिससे उनके द्वारा उपाजित अंग्रेजी-प्रियता का बाजार गर्म बना रहे और उनका वर्चस्व आम जनता पर बना रहे, क्योंकि भारत का जनसाधारण अशुद्ध अंग्रेजी बोलने वाले को भी महाज्ञानी, महापण्डित, शिक्षित, पढ़ा-लिखा मानता है। ऐसे दुराग्रह से हमारा देश जर्जरित हो गया है और हमें उसका परिज्ञान अत्यल्प भी नहीं। आज जो बाजार में टी शर्ट आदि बेचे जा रहे हैं, उन पर रोमन लिपि में कुछ न कुछ लिखा रहता है। रोमन लिपि का प्रचार न केवल विभिन्न सूचना पट्टों पर लिखकर किया जाता है, बल्कि कल-कारखानों में तैयार कपड़ों पर भी किया जा रहा है। इस प्रकार उसका प्रचार-प्रसार न केवल कुकुरमुते की तरह विकसित अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों के द्वारा किया जा रहा है, बल्कि गली-कूचे में भी किया जा रहा है। देवनागरी लिपि को अपदस्थ करने की साजिश अंग्रेज दलालों द्वारा अनवरत की जा रही है।

इसी तरह हमारी न्यायपालिका भी अंग्रेजी परस्त है। न्यायालय में जो वादी-प्रतिवादी द्वारा नियुक्त अधिवक्ता रहता है, वह अंग्रेजी में ही अपना मत न्यायाधीश के समक्ष रखता है, जिसे पैसा देकर अपने पक्ष में बोलने के लिए वादी-प्रतिवादी तैयार करते हैं। पर वह जिस भाषा में वह वहाँ बोलता है, उसे वे नहीं समझ पातेयह कितना हास्यास्पद है, अशोभनीय और विरुद्ध आचरण है। पर इस छोटी-सी बात पर हमारा ध्यान नहीं जाता और हम निष्प्राण होकर अधिवक्ता का मात्र मुख-संचालन देखकर सन्तोष करते हैं। उसके बाद न्यायाधीश अपना निर्णय जिस भाषा में सुनाता या लिखता है, जो वादी-प्रतिवादी को दिया जाता है, वह भी जिस भाषा में लिखा रहता है, उसे वे नहीं पढ़ पाते और पढ़ने वाला उन्हें जो अर्थ बताता है, वे वही मान लेते हैं। इस तरह यह माना जाता है कि भारतीय भाषाएँ, लिपियाँ, विधायिका, न्यायपालिका को चलाने तथा उनके निर्णयों के लिखने में सर्वथा अक्षम है। ऐसी मानसिकता से ग्रस्त रोगी का कोई उपचार नहीं हो सकता।

हमने अपने मनीषियों की उक्तियों-सूक्तियों को अचेतन के गर्त में डाल दिया है। भारतेन्दु की कही **‘निज भाषा उन्नति अहै’** जैसी सूक्ति को हमने बकवास माना। इसी वजन की समस्त सूक्तियों की सजीव अर्थवत्ता को निष्प्राण मान लिया। मैथिली में कहावत प्रचलित है **‘जो पढ़ि-लिखि कऽ नै बजै अछि मैथिली, मोन करैत अछि तकर कान दुनू ऐँठि ली।’** इन उक्तियों में जो भाषा प्रेम निहित है, वह स्पष्ट है। भारतेन्दु की उक्ति में जो निहितार्थ है, उसका ज्वलंत प्रमाण चीन, रूस, जापान, जर्मनी जैसे स्वाभिमानी सर्वांगीण विकसित देश हैं। और हम अंग्रेजी की दलाली करते रहे, उसकी गुलामी का अत्याचार सहते रहे, हम उसकी जी हुजूरी करते रहे और उसके पीछे दुम हिलाते रहे। फिर भी इन तिरसठ वर्षों में केवल विकासशील

बने रहे। हमने विश्व को अंक विद्या में निपुण बनाया, जिस देश के मनीषियों ने अपने चरित्र का पाठ विश्व को पढ़ाया

एतत् देश प्रसूतस्य शकासादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

अर्थात् इस देश में जन्म लेने वाले अपने पड़ोस देश के अग्रज हैं और पृथ्वी के समस्त मानव को शिक्षित करने के लिए यहाँ से अन्य देशों में गए। क्योंकि हम सर्वे भवन्तु सुखिनः तथा विश्वबन्धुत्व का बिगुल बजाने वाले हैं। हमारा दृष्टिकोण एकांगी नहीं, बल्कि सर्वांगीण रहा है। इस तरह की शुद्ध विचारधारा को हमारे पड़ोसी देशों तथा विदेशी लोगों ने अपनी कूटनीति तथा एकांगी दृष्टिकोण से लांछित कर हमारे घर में घुसकर या आक्रमण कर हमें सर्वतोभावेन कुचल दिया और परोक्ष रूप से अपने दलालों के माध्यम से हमें कुचल रहे हैं। हमारा ही भाई लालची हो गया है और शत्रुओं का दास बनकर हमारे पेट में छूरा भोंक रहा है। बाहर के साँप को मारा जा सकता है, पर अपने आस्तीन में छिपकर रहने वाला शत्रु कभी भी मारा नहीं जा सकता, बल्कि वह हमें ही काटकर धराशायी कर देता है। ऐसे शत्रु ऊपर से हमारा भाई बनने का नाटक करते हैं और घात लगाकर जान से मारकर आनन्दोत्सव मनाते हैं। ऐसे ही देशद्रोही दलालों के चंगुल में हम फँसे हुए हैं, जिससे हमारी भारतीयता, संस्कृति, राष्ट्रीयता दिन-प्रतिदिन अधःपतन की ओर जा रही है, जिसे हम अनुभव करने में पूरी तरह से असमर्थ हैं। यही वह स्थिति है, जो किसी देश के नागरिक को अपनी क्षणिक चकाचौंध में आकृषण कर सम्मोहित कर लेती है, और उसे उसके देश की सोच-समझ से परे कर देती है।

यहाँ हम निष्कर्षतः स्वीकार करते हैं कि भारतीय नागरिक विभिन्न स्तरों पर अपना मूल अस्तित्व भूलते जा रहे हैं। यदि यही स्थिति विद्यमान रही, तो क्या आनेवाली पीढ़ी भारतीयता को समझ पाएगी? वह पश्चिमी सभ्यता में इतना अधिक निमज्जित हो जाएगी कि उसमें से निकल पाना उसके लिए अत्यन्त दूभर हो जाएगा। अतः समय रहते हमें सचेत होकर अपने अस्तित्व को बरकरार रखना चाहिए। इस दिशा में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका को एकजुट होकर चिन्तन-मनन करना होगा और भारतीयता को सुरक्षित रखने के लिए उन्हें कारगर कदम उठाने होंगे।

पश्च देवस्य काव्यम

शोभाकान्त झा

राम लीला का काव्य यदि रामायण है, रामचरित मानस है; महारास का वाग विकास यदि श्रीमद्भागवत, सूरसागर है तो देव लीला का छन्द प्रकृति। जरा और जीर्णता से रहित, रमणीय, नवरस रुचिर (विषद अजिर) क्षण-क्षण में नवता धारण करने-रमाने, ललचाने, रिझाने डुबोनेवाली प्रकृति का आँगन पल-पल परिवर्तित प्रकृतिवेश, किसे नहीं आवेशित कर लेता है, खींच लेता है। अपने मंगल अजिर में लाखों विहारी को विहार करने के लिए न्यौता देता है और आकर्षण ऐसा कि नवल किशोरीकिशोर तो विभोर होकर विहार करते ही हैं, अधरस वय भी पीछे पग नहीं देती

नव वृंदावन नव नव तरुगन

नव नव विकसित फूल।

नवल बसंत नवल मलयानिल

मातल नव आति कूल ॥2॥

बिहरइ नवलकिशोर

कालिंदी-पुलिन कुंज वन सोभन

नव नव प्रेम विभोर ॥4॥

नवल रसाल-मुकुल-मधु मातल

नव कोकिन कुल गाय।

नव युवी गन चित उमताअई

नव रस कानन धाय ॥6॥

विद्यापति

अब आप ही बताइए कि नव रस रुचिर कानन काव्य, क्या कभी जरा जीर्णता से ग्रस्त हो सकता है? राम कथा-काव्य के लिए भी कहा गया है कि जब तक गंगा

*शोभाकान्त झा, कुशालपुर, रायपुर (छ.ग.)

है, सागर का विस्तार है तब तक संसार में रामायणी कथा कही-सुनी जाती रहेगी। इस कथा काव्य की अमरता का उपमान कानन का काव्य ही है। देवताओं की तरह काम रूप धारण करनेवाली प्रकृति कभी न रीतने-बीतने वाली शोभा का आगार, विराट और बीहड़, भयंकर और अभयंकर-शुभंकर शिव की तरह, वामन विष्णु के समान। सृष्टि प्रलय के समय भी प्रकृति की लय नहीं टूटती

उषा सुनहली किरण उगलती
जय लक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित काल रात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई ॥

ऐसी मोहिनी ममतामयी प्रकृति को मरणधर्मा मनुष्य अपने ही जैसा समझ बैठा है, जो जैसा होता है दूसरे को भी वैसा समझता है। इसी नासमझी ने आदमी तो आदमी, ईश्वर तक को मृत मान लिया है। कविता मर गई, विचार मर गया, केवल वह जीवित है, प्रकृति पर विजय पाने के लिए। विजय की प्रक्रिया में हासिल हुआ कम और खो गया ज्यादा। विश्व पर्यावरण दिवस मनाया जाना, इसी खो गए की भरपाई की दिशा में प्रयास है। पर्यावरणविद् की चिन्ता और चेतावनी बड़े-बड़े नगरों की आक्रान्त करने वाली प्रदूषण की दिन-प्रति-दिन विकराल होती समस्याएँ हाथ के कंगन जैसे आँखों के सामने हैं, परन्तु दृष्टिहीन आरसी के सामने होने पर भी कुछ नहीं देख पाता।

पृथ्वीपुत्र प्रकृति के कुछ रहस्यों का भेद पा लेने पर उच्छ्वसित है उस बौने की तरह जो नीचे झुकी डालियों को छूकर सोचता है कि मैंने आकाश छू लिया। अपने आप को वामन विष्णु समझने की भ्रान्ति में वह विराट की अभिव्यक्ति प्रकृति को आक्रान्त करने की कोशिश करता है। आदमी की औकात बताने के बहाने, अनन्त का अहसास दिलाने प्रकृति बीच-बीच में ताण्डव लीला रचती रहती है, पर थैथर आदमी उससे भी सीख नहीं ले पाता उस अपराधी की तरह, जो बार-बार जेल जाकर भी अपराध के कुकर्म से बाज नहीं आता है। परिणामतः रुद्र का तीसरा नेत्र खुलता है। प्रकृति का रौद्र रस का पन्ना पलटता है अनावृष्टि, जल प्लावन, भूकम्प, प्रचंड ताप और जीवन को जमा देनेवाले शैत्य के पन्ने। प्रदूषण और महामारी के पृष्ठ। विनाश के सिलसिलाओं का अध्याय। दुख तो यह है कि इन अध्यायों का सिलसिला आरम्भ होने पर निर्दोष आदमी ही तबाह ज्यादा होता है, वह खास नहीं, जो प्रकृति के अपमान का असली अपराधी है। कहा जाता है कि “कुत्ते कभी आग में नहीं जलते।”

प्रकृति देव काव्य है, इस बोध से विहीन विकासवादी दृष्टि विकास के नाम पर विकृति बढ़ा रही है एलोपैथी दवा की तरह, जो एक रोग को शान्त करती है तो

दूसरे रोग को पैदा करती है। भारतीय मनीषा विकासवाद की पाश्चात्य सोच से बिलकुल अलग रही है। अर्थ को पुरुषार्थ का दर्जा दिया गया, परन्तु आर्थिक प्रगति के कारण प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की बात कभी नहीं सोची गई। उसने पर्यावरण पर आक्रमण कभी नहीं किया। उसे रौंदने के बजाय उसने उसके साथ आत्मीयता स्थापित की। उसने उसे धार्मिक, मनोवैज्ञानिक रूप से अपने सुख-दुख में शामिल किया। भारतीय अवतार कच्छप, मत्स्य, वराह, नरसिंह उसके पीपल, वट, आम्र, सूर्य-चन्द्र, नाग, नग, चूहे, गरुड़सभी प्रकृति के विविध रूप हैं। इन सबके प्रति प्रदर्शित पूजा भाव और अभारतीय दर्शन-संस्कृति की दृष्टि से पिछड़ापन का सबूत हो सकता है, पर सच्चाई तो यह है कि यह भारतीय दार्शनिक विचारधारा से ओतप्रोत अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति हमारे मिथक और विश्वास का आत्मीय इजहार है। “सियाराम मय सब जग जानी” का बोध है। प्रकृति पुरुष के सहभाव से यह सृष्टि विकसित होती है, इस दर्शन की स्वीकृति है, सम्मान है।

वह दर्शन ही क्या जो आचरण का हिस्सा न बन पाए। वह विचार ही क्या जो कमोवेश आचार में शामिल न हो पाए। सर्वेभवन्तु सुखिनः कह देने मात्र से सभी सुखी नहीं हो जाते, जब तक सभी लोग सबके सुख का ख्याल न रखें, वैसा आचरण न करें। तभी तो भारतीय जन ग्रह-नक्षत्र, गगन-पवन, अग्नि-आकाश, पृथ्वी-पानी सबको देव स्वरूप मानकर उन्हें अपने सुख दुःख में शामिल करते हैं। जब सूर्य-चन्द्र ग्रहण के समय कष्ट में होते हैं तो लोग उनकी मुक्ति के लिए, कष्ट निवारण के लिए पूजा-पाठ करते हैं, घण्टों नदी जल में खड़े होकर प्रार्थना करते हैं।

दरअसल यह अंधविश्वास नहीं, अपितु उपकृत की उपकर्ता के प्रति कृतज्ञता, श्रद्धा, आत्मीयता जैसे भावों की अनौपचारिक अभिव्यक्ति है। देव से दान पाते हैं, प्रकाश भी, इसलिए वे देव हैं। देनेवाले के प्रति पानेवाले का फर्ज बनता है कि वह उसके प्रति अपना श्रद्धाभाव प्रकट करे। अपनापन दिखाए। “धन्यवाद” जैसे औपचारिक शब्दों का प्रयोग करते हुए निपटा न दे। प्रकृति देवी के प्रति पूज्य आत्मीय दृष्टि पूज्य-पूजक का परस्पर भावना का भाव है। भावों को उत्साहित व आनन्दित करने की क्रियात्मक भावना है। इसी पारस्परिक सौमनस्य एवं व्यवहार्य भाव को बढ़ाने के लिए गीता कहती है कि मानव एक-दूसरे को भावित करें और श्रेय प्राप्त करें

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयमवाप्स्यथ ॥

हमारी संस्कृति-जीवन शैली निर्गुनिया नहीं कि दूसरे के गुण को भुला दें, उपकार की उपासना न करे। सगुणोपासक यह संस्कृति दुर्वादल श्यामल श्याम और तरुण अरुण राजीवनयन राम का उपासक है। मूर्त के द्वारा अमूर्त की आराधना में निपुण। स्थूल के द्वारा सूक्ष्म का अहसास कराने में कुशल। प्रकृति की विभूतियों में

देव दर्शन करने-कराने में सिद्ध। हिमालय को देवतात्मा माना गया, गंगा देव नदी मानी गई है जिसके दर्शन पर मन मज्जन से पुनीत हुआ जाता है। गोवर्धन यदि कृष्णरूप है तो समस्त नदी मातृदेवता। केवल कथनी में नहीं, करनी में भी। आज भी लाखों लोग गोवर्धन और नर्मदा की परिक्रमा करते हैं। हरिद्वार से गंगा जल लेकर रामेश्वरम में शिव शीश का अभिषेक करने जाते हैं। नदी तट पर जुड़नेवाला कुम्भ पर्व, मेला नहीं, पर्व है, अमृतमहोत्सव। लाखों लोगों को इस अमृत पर्व पर नहाते देखकर पर्व भी नहा उठता है, पावन हो जाता है, लाखों की श्रद्धा पाकर गद्गद् हो जाता है, स्वयं गंगा नहा उठती है श्रद्धा जल से। इस तरह के मेले के आयोजन के लिए जहाँ पाश्चात्य जगत अरबों रुपया विज्ञापन में खर्च करता है वहाँ इस देश में केवल श्रुति परम्परा और पंचांग के माध्यम से लोग ऐसे जुड़ आते हैं कि भीड़ सम्हाले नहीं सम्हालती। श्रद्धा का यह बेजोड़ उदाहरण विश्व में खोजे नहीं मिलता। अद्वितीय भक्तिभाव। अप्रतिम सनातन प्रकृति पूजन। वनगमन के प्रसंग में राम सीता को वन जाने से रोकते हैं, वन में होने वाले कष्टों का खौफ दिखाते हैं और घर में रहकर, सास-ससुर की सेवा करने के लिए सलाह देते हैं, परन्तु सीता की सहचरी प्रकृति से आत्मीयता वन देवी और वन देव को ही सास-ससुर सम देखती है

*वन देवी वन देव उदारा।
करिहिं सास-ससुर सम प्यारा ॥*

यह है मानव का प्रकृति के प्रति महाभाव। सगुण संस्कृति का व्यापक विस्तार, अप्रत्यक्ष देवों का प्रत्यक्ष रूप। मानो तो देव, नहीं तो पत्थर। मानने से ही हिमालय पत्थर नहीं, देवतात्मा है, पार्वती के पिता, मैना के पति। देश का वरदान। आप मानसरोवर तो दूर, केवल केदारनाथ या बद्रीनाथ चले जाइए। आप विदेह हो जाएँगे। इसी देह से स्वर्गलोक पहुँचने का सद्यः अहसास। युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण की स्मृति-पुराण प्रत्यक्ष होता-सा जान पड़ेगा। कालिदास का यह छन्द अहसास की अभिव्यक्ति है

*अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा।
हिमालयो नाम नगाधिराजः ॥
पूर्वापरौ तोयनिधिः वगाह्य।
स्थित पृथिव्यामिह मानदण्डः ॥*

कुमार संभवम्

जैसे रामायण और महाभारत भारतीय काव्य परम्परा के उपजीव्य रहे हैं, वैसे ही देव काव्य प्रकृति भी। वेदों में ऊषा, अग्नि, गगन, पवन केन्द्रस्थ हैं तो मेघदूत मेघमाला की ही विश्व बेजोड़ कृति हैं। विद्यापति, सूर, तुलसी के पद-प्रबंधों में प्रकृति

के अनुबन्धों का गान है। छायावाद तो प्रकृति का लीला गान ही है, आत्मीय राग, निजता का नैवेद्य

*यमुने तेरी इन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान
पथिक-प्रिया-सी जगा रही है
उस अतीत के नीरव गान।
बता कहाँ अब वह बंशीवट?
कहाँ गए नटनागर श्याम?
चलचरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृंदाधाम?*

निराला : यमुना के प्रति

वास्तविकता तो यह है कि प्रकृति हममें समाई हुई है और हम उसमें। मनुष्य भी प्रकृति काव्य का सुन्दर पृष्ठ है। नैरंतर्य क्रम में अजर अमर पृष्ठ। क्या यह वैज्ञानिक सत्य नहीं है कि मनुष्य 26 प्रकार के परमाणुओं का संघात है? क्या यह धार्मिक विश्वास मिथ्या है कि यह शरीर पंचभूतों का मधु मिश्रण है। कृष्ण जब कहते हैं भूमि, जल, अग्नि, वायु, मन, बुद्धि, अहंकार सब मेरी प्रकृति है, मुझसे अलग कुछ भी नहीं है

*भक्तः परतरनान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव ॥*

गीता, 616

जिस देश का ऐसा दर्शन हो, जो आत्म से अन्य को अलग नहीं मानता हो, अन्य को हेय या हेल न समझता हो; जहाँ ऐसे विश्वास और मिथक जीवन जीने की सहज प्रक्रिया में अभिव्यक्त होते हों कि सारा जगत “सियाराममय” है, प्रकृति-पुरुष का प्रतिरूप है; वहाँ प्रकृति प्रतिपक्ष कैसे हो सकती है? उस पर विजय की बात कैसे सोची जा सकती? रावण सोच सकता है, राम नहीं। राम ने सामर्थ्य होते हुए भी समुद्र से रास्ते के लिए अभ्यर्थना की थी, इस अभ्यर्थना को दूत से सुनकर रावण को हँसी आ गई थी

*सुनत वचन बिहसा दससीसा। जौ असि मति सहाय कृत कीसा॥
सहज भीरू कर बचन दृढ़ाई। सागर सन ठानी मचलाई ॥*

सुन्दरकाण्ड दोहा56

वास्तविकता तो यह है कि भारतीय वैदिक काल से ही प्रकृति को अपना प्रतिपक्ष न मानकर सहचरी मानते आए हैं। उसकी पूजा करते आए हैं। पूजक में शोषक की सोच आ ही नहीं सकती। वह प्रेम कर सकता है, वह गंगा में अस्थि विसर्जन कर एकमेक हो सकता है। वैदिक कवि जब जिज्ञासा भाव से ओतप्रोत होकर भूमा से प्रार्थना करते हैं कि उसके सूर्यचन्द्र, पवन-गगन समस्त पर्यावरण मधुमय हो, तो वह अनुकूल-सहचरी के लिए ही कामना करता है।

मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः ।
माध्विर्नः सन्त्वौषधी मधुनक्तमुतोषसि
मधुमत्पार्थिवं ग्वं रजः । मधु पौरस्तु
नः पिता । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधु
मानस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः
ॐ मधु-मधु-मधु

कण्व ऋषि जब अपने आश्रम पादपों-लताओं से कहते हैं—“जो शकुन्तला तुम्हारी प्यास शान्त किए बिना जल नहीं पीती थी, पुष्पभूषण प्रिय होने पर भी स्नेहवश वह तुम्हारे फूलों को नहीं तोड़ती थी, तुम्हारा प्रथम-प्रथम खिलना उसके लिए उत्सवजैसा होता था, वही तुम्हारी प्रिय सखी पतिगृह जा रही है। उसे विदाई दो। विदाई भी देने का विधान कितना मर्म मनोहर है। मृगी मुँह की घास उगल दे रही है। मयूर ने नाचना बन्द कर दिया है। पादप-लता पीले पत्ते गिरा-गिराकर मानो आँसू से अभिषेक कर रहे हैं

पांतु न प्रथमं व्यवस्यति जलं युस्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्
आद्ये वः कुसुमप्रसृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सवैरनुतायताम् ॥
उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्त नर्तना मयूराः ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्थूणीव लताः ॥

शाकुन्तलम-4/-8-11

यह है इस मधुमय देश की संस्कृति का प्रकृति के प्रति सलूक और सरोकार। प्रसाद का कवि जब नाविक से निवेदन करता है कि तुम मुझे ले वहाँ से चलो भुलावा देकर जहाँ सागर लहरी आकाश से मनुहार की बातें कर रही हों; पृथ्वी के कोलाहल से दूर ले चल नाविक

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक। धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवानि रे।

लहर

तो यह मधुमय देश के कवि का जीवन से पलायन नहीं, उसके मधुमय क्षणों एवं संवेदनशील पक्ष का आत्मभावन है; सहचरी प्रकृति की आत्मीयता का सम्मोहन है। यह अपने आपको भुलावा देना नहीं, अपितु कोलाहल को भुलावे में डालना है। ईर्ष्या-द्वेष, मार-धाड़, तनाव-तिमिर से हटकर निश्छल प्रेम की दुनिया में खो जाना है, ताकि शक्ति संचय करके जिन्दगी की जद्दोजहद का सामना किया जा सके। सप्ताहांत में सैकड़ों मील सफर करके वादियों की गोदी में पिकनिक के बहाने खो जाने वाले पश्चिम के प्रकृतिप्रेमी लोग क्या पलायनवादी कहे जा सकते हैं? नहीं, यह रोजमर्रा की ऊब-डूब से निजात पाने की प्यास है। मानसिक शारीरिक थकान खारिज कर फिर से संघर्ष के लिए तत्पर होने की अनजानी प्रतिक्रिया है। यह आदिम साहचर्य का भीतरी अर्ज है। सुकून पाने का सबब है। देव काव्य में रमने की ललक है। इसी भीतरी ललक और माँग के मद्देनजर प्रकृति से दूर-दूर जा रहे लोगों से रिलके अर्ज करते हैं

“आपको प्रकृति की तरफ जाना होगा। दुनिया के आदि पुरुष के सामने वह सब कहने की कोशिश करनी होगी, जो आप देखते हैं, अनुभव करते हैं, प्रेम करते हैं, खो देते हैं।”

निर्मल वर्मा : पत्थर और पानी, पृष्ठ 86

रिलके आज कहते हैं, पर वैदिक कवि जाने कब से कहते आ रहे हैं—“प्रकृति देवों का काव्य है, जरा-जीर्णता जिसे छूती नहीं। उसे देखो। हमेशा उसका सरोकारी बने रहो, तुमसे भी जरा-जीर्णता दूर रहेगी”

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति

देवनागरी लिपि एवं भारत की भाषाएँ*

डॉ. ब्रज विहारी कुमार**

भारत में प्राचीन काल से ब्राह्मी एवं खरोष्ठीइन दो लिपियों का प्रयोग होता रहा है। ब्राह्मी बाएँ से दाएँ एवं खरोष्ठीजिसका अर्थ खर यानी गधे का ओष्ठ होता है दाएँ से बाईं तरफ लिखी जाती रही है। वैसे चीन तथा जापान में प्रयुक्त देवनागरी का पूर्व रूप 'सिद्ध लिपि' भी दाईं से बाईं तरफ लिखी जाती है। ध्यातव्य है कि चीनी भाषा मण्डारिन चित्र-लिपि का प्रयोग करती है। प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रन्थ 'ललित विस्तर' के दशम अध्याय में परिगणित चौंसठ लिपियों में ब्राह्मी एवं खरोष्ठी का नाम पहले ही आया है। कुछ अन्य लिपियोंअंग, बंग, मगध, द्रविड़, कनारी, दक्षिण, दरद, खास्य, चीन, हूण, देव, नाग, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, असुर, गरुड़, उत्तर कुरू-द्वीप, अपर गौड़ादी, पूर्व विदेह एवं सागरके नाम स्थान या जाति विशेष से जुड़े हैं। अन्य लिपियोंपुष्कसारी, अंगलीय, शकारी, ब्रह्मवल्ली, उग्र, संख्या, अनुलोम, अर्ध-धनु, पुष्प, मध्यान्तर-बिस्तर, महोरग, मृग-चक्र, चक्र, वायुमरूत, भीमदेव, अनरीक्ष-देव, उत्क्षेप, निक्षेप, विक्षेप, प्रक्षेप, वज्र, लेख-प्रतिलेख, अनुद्रुत, शास्त्रावर्त, गणनावर्त, उत्क्षेपावर्त, विक्षेपावर्त, पादलिखित, द्विरुत्तर पदसन्धि, दशोत्तर पदसन्धि, अध्याहारणी, सर्वभूत संग्रहणी, विघटलोम, विमिश्रित, ऋषितपस्तया, धरणीक्षेपण, सर्वौषाधिनिष्पन्दा, सर्वसार-संग्रहणी एवं सर्वभूतसंग्रहणीके विषय में तो कुछ भी कहना सम्भव नहीं। वैसे लिपियों के विषय में कुछ-कुछ बातों का उल्लेख आवश्यक है : (क) भारत के लोगों को देश-विदेश की अनेक लिपियों का ज्ञान रहा है। (ख) समय-समय पर नई लिपियाँ बनती रही हैं, पुरानी लिपियाँ लुप्त होती रही हैं। सिन्धु-हड़प्पा लिपि, ब्राह्मी, कश्मीर की शारदा लिपि आज प्रयोग में नहीं हैं। कई जनजातियों में अपनी लिपि होने और उनके लुप्त होने के मिथक/लोक-विश्वास है। (ग) लिपियों के स्वरूप भी बदलते

*साहित्य अकादेमी की 29 दिसम्बर, 2010 की "देवनागरी एवं भारतीय भाषाएँ" विषय पर आयोजित गोष्ठी के लिए तैयार आलेख।

**लेखक त्रैमासिक 'डायलाग' एवं 'चिन्तन-सृजन' के सम्पादक हैं।

रहे हैं, जिससे नई लिपियों का जन्म होता रहा है। ब्राह्मी लिपि में आए बदलाव से भारत की विभिन्न लिपियाँ बनीं। (घ) भारत के अतिरिक्त एशिया के विभिन्न देशोंइन्दोनेशिया, मलयेशिया, थाइलैण्ड, वियतनाम, कम्बोडिया, लाओस, म्याँमार, श्रीलंका, तिब्बत, मंगोलिया आदि में भारतमूलक लिपियों का व्यापक प्रयोग होता रहा है। मध्य एशिया के चीनी-तुर्किस्तान में ब्राह्मी एवं खरोष्ठी लिपि में लिखे संस्कृत एवं प्राकृत के सैकड़ों ग्रन्थ एवं दस्तावेज मिले हैं। दक्षिण-पूर्व एवं मध्य एशिया के हजारों संस्कृत शिला-लेखों की लिपि भारत-मूल की रही है।

समय के साथ एक ही लिपि ब्राह्मी के अलग-अलग रूप विकसित होकर विभिन्न आधुनिक भाषाओं की लिपियों में बदलाव आया; अलग-अलग लिपियाँ बनीं, यद्यपि अधिकांश अक्षरों की बनावट में मौलिक अन्तर नहीं आया। कुछ लिपियाँ कलात्मक बनीं, जैसे देवनागरी की तुलना में बंगला। अक्षरों के स्वरूप में बदलाव का एक कारण लेखन-सामग्री भी रही। सीधी रेखाओं के खींचे जाने से तालपत्रों के फटने की सम्भावना रहती थी, अतः तालपत्र पर लिखी जानेवाली भाषाओं के अक्षर गोलाकार होने लगे। भोजपत्रों पर लिखी भाषाओं के साथ ऐसी बाध्यता नहीं थी।

ऐतिहासिक कारणों से मुगलकाल में तथा उसके बाद अंग्रेजों के शासनकाल में भी कुछ समय तक फारसी तथा उर्दू भाषा एवं फारसी लिपि देश के अनेक भागों में राजकाज, न्याय-व्यवस्था एवं अभिजात वर्ग के बीच महत्त्वपूर्ण बनी रहीं। अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजी भाषा एवं रोमन लिपि का वर्चस्व बढ़ा जो आजादी के बाद भी पूर्ववत् कायम है। साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में भारतीय भाषाओं का महत्त्व बना रहा। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तर भारत में फारसी भाषा एवं लिपि के स्थान पर हिन्दी एवं देवनागरी लाने का आन्दोलन चला। इसका सूत्रपात न्यायमूर्ति श्री शारदाचरण मित्र एवं उनके संगठन *एक लिपि विस्तार* परिषद एवं *देवनागर* पत्रिका द्वारा हुआ। आर्य समाज, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी आदि का योगदान देवनागरी को उचित स्थान दिलाने में महत्त्वपूर्ण रहा। पिछली शताब्दी के पहले दशक में ही लोकमान्य तिलक एवं न्यायमूर्ति श्री बी. कृष्णस्वामी अय्यर ने सभी भारतीय भाषाओं के लिए अतिरिक्त लिपि के रूप में देवनागरी के महत्त्व को रेखांकित किया था। महात्मा गांधी ने समस्त भारतीय भाषाओं के लिए सामान्य लिपि के रूप में देवनागरी का समर्थन करते हुए 1937 में भारतीय साहित्य परिषद, मद्रास में अपने अध्यक्षीय भाषण में स्पष्टतः कहा था कि फारसी एवं रोमन लिपियों में न तो देवनागरी जैसी पूर्णता है और न ही देवनागरी के समान भारतीय भाषाओं की विभिन्न ध्वनियों को शुद्ध रूप से व्यक्त करने की क्षमता है। अनेक लिपियों का बोझ ढोना अनावश्यक है क्योंकि इस बोझ से सहज ही छुटकारा मिल सकता है। महात्मा गांधी ने 11 फरवरी, 1939 के *हरिजन* के अंक में रोमन लिपि को भारत के लिए एक सामान्य लिपि के रूप में अपनाए जाने को भावना एवं वैज्ञानिकता, इन दोनों के ही

विरुद्ध बताते हुए कहा था कि उसे प्रचलित करना थोपना ही होगा और थोपी गई चीज कभी लोकप्रिय नहीं हो सकती। अतः जागृत होते ही जनता उसे उखाड़ फेंकेगी। पं. नेहरू भी समस्त भारतीय भाषाओं की सामान्य लिपि के रूप में देवनागरी को अपनाए जाने के पक्षधर थे।

भारत की सभी भाषाओं की लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं, अतः सहोदरा हैं। इनके स्वरों एवं व्यंजनों के ध्वनि-विन्यास एवं स्वरूप में भी काफी समानता है। जैसे तमिल में महाप्राणता के अभाव हैं, अघोष ध्वनियाँ शब्द के प्रारम्भ में ही आती हैं; अन्यत्र उनका उच्चारण सघोष होता है। अतः प्रत्येक वर्ग में मात्र दो ही अक्षरप्रथम एवं पंचमसे काम चल जाता है। इसलिए तमिल वर्णमाला में अक्षरों की संख्या कम है।

पिछले एक हजार से अधिक वर्षों से देवनागरी भारत की सर्वाधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय लिपि रही है। इसका सर्वाधिक प्रयोग आज उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, गोवा एवं दिल्ली में, हिन्दी, मराठी एवं कोंकणी तथा उन क्षेत्रों की बोलियों के लेखन के लिए हो रहा है। देवनागरी सिक्किम एवं दार्जिलिंग में प्रयुक्त नेपाली की लिपि है। असम के बोड़ो लोगों ने इसे अपना लिया है। संताली, मुण्डा, हो, गोण्डी, भीली आदि तथा जम्मू की डोगरी की लिपि भी देवनागरी ही है। पड़ोसी नेपाल में नेपाली एवं नेवारी की लिपि देवनागरी ही है।

संस्कृत, पालि एवं प्राकृत की लिपि होने के कारण देवनागरी का प्रयोग सार्वदेशिक हो गया है। जैसे देवनागरी में लिखे संस्कृत शिलालेख भारत ही नहीं इण्डोनेशिया के विभिन्न क्षेत्रों में भी मिले हैं। ध्यातव्य है कि संस्कृत ग्रन्थों का लेखन पहले, शारदा, ग्रन्थ-लिपि, बंगला, तेलुगु, मलयालम एवं मिथिलाक्षर लिपियों में भी होता रहा है। किन्तु 1860 के बाद देवनागरी इसकी एकमात्र लिपि हो गई।

व्यवहार क्षेत्र की व्यापकता एवं लोकप्रियता के अतिरिक्त जो बात रोमन एवं फारसी/उर्दू लिपियों की तुलना में इसके पक्ष में जाती है, वह है इसकी वैज्ञानिकता। इस लिपि को पढ़ा वही जाता है जो लिखा जाता है। फिर संचार के लिखित अखिल भारतीय माध्यम के रूप में किसी क्षेत्र विशेष के साहित्य को अन्यत्र पहुँचाने का माध्यम भी देवनागरी रही है।

पिछले लगभग एक सौ वर्षों के दौरान देवनागरी की पहुँच बढ़ाने के सरकारी/गैर-सरकारी प्रयत्नों का उल्लेख भी आवश्यक है। जैसा कि सभी जानते हैं बिहार में कैथी एवं मिथिलाक्षर लिपियों का बहुतायत से प्रयोग होता था। उनका स्थान देवनागरी ने ले लिया है। देश की प्रमुख भाषाओं को छोड़कर, मात्र कुछ भाषाओं कीमैतेयी, लेप्चा, लिम्बु, खाम्ब की तथा कैथी, महाजनी आदि कुछ लिपियाँ ही थीं। अंग्रेजी शासनकाल में जनजातीय भाषाओं के लिए रोमन लिपि में पुस्तकें प्रकाशित

कराई गई, खासकर मिशनरियों द्वारा। लेकिन आज हिन्दी-भाषी प्रदेशों में इन भाषाओं के लिए देवनागरी तथा नागालैण्ड, मेघालय, मिजोरम एवं मणिपुर के पहाड़ी जिलों को छोड़कर, अन्य राज्यों में प्रादेशिक लिपियाँ अपनाई जा चुकी हैं। जैसे त्रिपुरी, बोड़ो आदि भाषाओं के लिए रोमन लिपि अपनाने के प्रयास भी चले हैं। उड़ीसा में एक सज्जन ने संताली के लिए नई लिपि की खोज की है। कश्मीरी की लिपि शारदा रही है; आज कश्मीरी उर्दू/फारसी लिपि में लिखी जा रही है। मणिपुर में बंगला लिपि को त्यागकर पुरानी लिपि अपनाने की दिशा में एक वर्ग सक्रिय है। सिन्धी भाषा अवश्य अरबी/फारसी एवं देवनागरी लिपियों को अपनाए हुए है।

सामान्य राष्ट्र लिपि के रूप में देवनागरी को अपनाए जाने के रास्ते में आनेवाली कठिनाइयों को दूर करने के प्रयत्न भी समय-समय पर किए जाते रहे हैं। इस कार्य में केन्द्र एवं राज्य सरकारों, भाषा विशेषज्ञों एवं स्वैच्छिक संस्थाओं की सहभागिता रही है। इस दिशा में किए गए कार्यों में (क) देवनागरी वर्णमाला के मानक स्थिर किए जाने, (ख) अन्य भारतीय भाषाओं की विशिष्ट ध्वनियों के लिए देवनागरी में नवीन प्रतीकों के समावेश, एवं (ग) अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य का देवनागरी लिपि में प्रकाशन सम्बन्धी कार्यों की जानकारी देना आवश्यक जान पड़ता है।

हिन्दी में अ, झ एवं ण के दो-दो रूप (अ, अ्र, झ, भ, ण रा) में प्रथम रूपों को मानक रूप मान लिया गया। ख के पूर्व रूप से र एवं व का भ्रम होता था, अतः उसे छोड़ दिया गया। खड़ी पाई वाले व्यंजनों, जैसे ग, च, त, थ, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, व, श, क आदि के संयुक्ताक्षर अन्तिम पाई हटाकर (र, द, त, थ, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, व, श, क आदि) या अन्य वर्णों की तरह हलन्त लगाकर बनाए जाने की व्यवस्था की गई। वर्णमाला का मानकीकरण करते समय लेखन-मुद्रण के आधुनिक उपकरणों के लिए उनकी उपयुक्तता, टाइपराइटर एवं टेलीप्रिंटर के कुंजीपटलों की आवश्यकता आदि तकनीकी आवश्यकताओं पर भी ध्यान दिया गया।

देवनागरी से भिन्न या अतिरिक्त लिपिग्राम वाली भाषाओं की विशिष्ट ध्वनियों के लिए आवश्यक संकेत-चिह्न निर्धारित किए गए। स्वर वर्णों में दक्षिण भारत की चार भाषाओं एवं कश्मीरी के ह्रस्व एवं दीर्घ 'ए' एवं 'ओ' के अतिरिक्त कश्मीरी के विशिष्ट स्वर 'अ', 'आ', 'उ' एवं 'ऊ' तथा उसके कुछ शब्दों के अन्त में आनेवाले अत्यल्प 'इ' तथा 'उ' के लिए संकेत चिह्न निश्चित किए गए। व्यंजना वर्णों से कश्मीरी के च वर्ग (च, छ, ज, झ) सिन्धी के अन्तस्फुट व्यंजनों (ग, ज, द, ब) के नीचे लकीर तथा उर्दू की विशिष्ट ध्वनियों (क, ख, ग, ज, झ, फ, अ) के नीचे विन्दु लगाने की व्यवस्था की गई। दक्षिण भारतीय भाषाओं की एकाधिक र, ल, न एवं ष ध्वनियों में मलयालम, तमिल एवं तेलुगु के कठोर र के नीचे लकीर लगाने (मलयालम र तथा र र; तेलुगु एवं तमिल र) की व्यवस्था की गई। हिन्दी उल्क्षिप्त

पार्श्विक ध्वनि इ, ढ की तरह मलयालम ष के नीचे बिन्दु (ष) की व्यवस्था की गई। द्रविड़ भाषाओं में राजस्थानी, पंजाबी, बांगरू तथा मराठी की तरह मूर्धन्य पार्श्विक ळ है। तमिल के दो ळ में से एक के नीचे लकीर दी गई। तमिल नू के साथ भी ऐसा ही हुआ। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा प्रकाशित 'परिवर्धित देवनागरी' पुस्तिका में इसकी विस्तृत जानकारी दी गई है।

विगत चार-पाँच दशकों से विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य को देवनागरी लिपि के माध्यम से प्रकाशित करने का छिटपुट काम हुआ है। साहित्य अकादमी ने सम्पूर्ण रवीन्द्र साहित्य का देवनागरी लिप्यन्तरण कराके प्रकाशित किया था। नागरी लिपि परिषद, दिल्ली ने कई भाषाओं का स्वयं-शिक्षक, जिसमें विदेशी भाषाएँ शामिल हैं, प्रकाशित कराया था, इस संस्था को विनोबा जी का वरद-हस्त प्राप्त था। गुवाहाटी की शरण्या आश्रम की पत्रिका में असमी भाषा के लेख असमी एवं देवनागरी, दोनों ही लिपियों में छपते हैं। लखनऊ की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्था 'भुवन वाणी ट्रस्ट' है। इस संस्था ने देश-विदेश की विभिन्न भाषाओं के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का देवनागरी लिप्यन्तरण सहित हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है। उनका डबल डिमाई 1/8 साइज के 2016 पृष्ठों का दो खण्डों का 'आदि श्री गुरु ग्रन्थ साहिब' का प्रकाशन लेख लिखते समय मेरे सामने पड़ा है, जिसकी कीमत है मात्र 1500 रुपए।

यहाँ मैं एक अन्य संस्था 'नागालैण्ड भाषा परिषद, कोहिमा के कार्यों का उल्लेख करना चाहूँगा। उससे मैं संस्थापक सचिव एवं उसके प्रकाशनों के लेखक, सम्पादक, सहसम्पादक के रूप में जुड़ा रहा। इस संस्था ने नागालैण्ड की आओ, अंगामी, लोथा, सेमा, चोक्री, खेजा, जेमी, लियांगमाडू, रेंगमा, साइतम, फोम, चांग, कोन्यक एवं कुकी भाषाओं के त्रिभाषी कोश (हिन्दी अंग्रेजी सहित; जनजातीय भाषा के शब्द रोमन एवं देवनागरी में) प्रकाशित किए हैं। हिन्दी के द्विभाषी कोशों में, जिनमें विभिन्न भाषाओं के शब्द देवनागरी में दिए गए हैं, मणिपुर की मणिपुरी, तांगखुल, काबुह, हमार, पाइते, असम की कर्बी, दिमासा, बोड़ो, मिशिंग, अरुणाचल की तराँव, त्रिपुरा की त्रिपुरी, मेघालय की खासी एवं गारो, मिजोरम की मिजो, सिक्किम एवं दार्जिलिंग की नेपाली, लेप्चा एवं लिम्बु, बिहार, झारखण्ड की संताली, मुण्डा, हो एवं कुड़ुख तथा लद्दाख की भोटी एवं नागालैण्ड की नगामी के कोश शामिल हैं। इसके अतिरिक्त बीस विभिन्न बोलियों की शब्दावलियों, 17 के व्याकरण या व्याकरणों की रूपरेखा, 17 के स्वयं-शिक्षक नव भाषाओं की हिन्दी के साथ समस्रोतीय शब्दावली एवं चार भाषाओं की लोक-कथाएँ (त्रिपुरी, पाइले, कुकी एवं संताली की) परिषद द्वारा प्रकाशित की गई। ध्यातव्य है कि यह समस्त कार्य हिन्दी एवं देवनागरी लिपि में हुआ है।

भारत सरकार के केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा प्रकाशित बहुभाषी चौदह भाषाओं के कोश तथा अन्य कोशों में तथा केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के भाषा सम्बन्धी

प्रकाशनों में भी देवनागरी लिपि प्रयुक्त हुई है। सर्वप्रथम श्री नरवणे ने भारतीय संविधान में सम्मिलित भाषाओं का कोश लगभग साठ वर्ष पूर्व बनाया था। मेरे भारतीय भाषा कोश (Indian Lexicon) के दो भागों में चुने हुए संख्यावाचक शब्दों एवं सर्वनामों के पर्याय देवनागरी एवं रोमन लिपियों में लगभग 500 भाषाओं/बोलियों में दिए गए हैं। मेरे कोश में अंगामी नागा जैसी भाषा में प्रयुक्त सुर-तान के लिए कोई संकेत चिह्न नहीं प्रयुक्त हुआ है।

अन्त में दो बातें और। हमारे देश की विभिन्न भाषाओं में इतना अधिक साहित्य विभिन्न लिपियों में संग्रहीत है कि उसमें से किसी के साहित्य का अन्य किसी लिपि में लिप्यन्तरण एवं प्रकाशन सम्भव नहीं, रोमन लिपि में तो बिलकुल नहीं। फिर रोमन लिपि की वकालत करनेवाले हमें अपनी साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत से काटना चाहते हैं, जो घातक षड्यन्त्र ही है। हाँ, देवनागरी को एक अतिरिक्त सम्पर्क लिपि के रूप में अवश्य विकसित किया जाना चाहिए जिसमें देश की सभी प्रमुख भाषाओं का चुनिन्दा साहित्य प्रकाशित किया जा सके। दूसरी बात यह कि अंग्रेजी शब्दों को लिप्यन्तरित कर भारतीय भाषाओं में घुसपैठ कराने की अबाधित प्रवृत्ति पर अब रोक लगनी ही चाहिए।

पृष्ठ 124 का शेष

'चिन्तन-सृजन' का अक्टूबर-दिसम्बर, 2010 अंक मिला। शोधपूर्ण व उच्च-स्तरीय पत्रिका पाकर हर्षहुआ। सामग्री मौलिक, उत्कृष्ट व विशिष्ट है। लेखकों ने अथक श्रम करके अत्यंत सारगर्भित व शोधात्मक सामग्री संग्रहित की है। वैसे तो सभी आलेख जानकारीपरक हैं, पर हिंद स्वराज की प्रासंगिकता, साहित्य की भारतीय परंपरा व भूमण्डलीय और भारतीय संदर्भों में स्त्रीवाद ने विशेष प्रभावित किया। संपादकीय परिप्रेक्ष्य भी विचारोत्तेजक है। कुछ कविताएँ भी स्थान पा जाती तो सरसता का अनुभव होता।

- प्रो.(डॉ.) शरद नारायण खरे, विभागाध्यक्ष इतिहास, शासकीय महिला महाविद्यालय, मंडला-481661(म.प्र.)

गुरु गोविन्द गिरी का भगत आन्दोलन व राजनीतिक जनजागरण

सुशीला शक्तावत*

लाखों भीलों को स्वदेश, स्वधर्म, आत्म-सम्मान, कठोर परिश्रम, सामाजिक और धार्मिक चैतन्य और आवश्यकता पड़ने पर विदेशी राज का जुआ उतार फेंकने का मूल मन्त्र देकर गोविन्दगिरी उनका एक-छत्र सर्वमान्य नेता बन गया। सम्प सभा के माध्यम से शायद यह आन्दोलन अपनी पूर्णता पर पहुँचता उसके पूर्व ही मानगढ़ की पहाड़ी पर हुए भीषण नरसंहार ने इस आन्दोलन की भ्रूण हत्या कर दी, किन्तु इतिहास साक्षी है कि आज भी गोविन्दगिरी का चलाया “भगत पन्थ” इस विशाल प्रदेश में उनकी स्मृति को जीवित एवं जाग्रत बनाए हुए हैं तथा इसके बाद इसने रियासतों में उठने वाले सभी जन आन्दोलनों का पथ प्रशस्त किया।

स्वतन्त्रता और सामाजिक धार्मिक सुधार की पहली मशाल गोविन्दगिरी ने जलाई और राजस्थान में स्वतन्त्रता संग्राम का आदि जनक होने का श्रेय पूर्णतया उन्हीं को जाता है।

गोविन्द गिरी ने अपने भगत आन्दोलन के माध्यम से न केवल भीलों की सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक स्थिति को सुधारा बल्कि उनके इस आन्दोलन ने राजनीतिक स्वरूप भी ग्रहण कर लिया। परिणामस्वरूप मानगढ़ की घटना घटित हुई। अंग्रेजों एवं ईसाई प्रचारकों द्वारा गोविन्दगिरी के आन्दोलन को राजनीतिक करार कर दिया गया। ज्यों-ज्यों आन्दोलन को दबाने का प्रयत्न किया गया त्यों-त्यों भीलों में राजनीतिक चेतना विकसित हुई, जो क्षेत्र में स्वतन्त्रता संघर्ष का जनाधार बनी।

ऐसा माना जाता है कि 1880-81 ई. के मध्य वे आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्पर्क में आए और उनसे दीक्षा प्राप्त की।¹ भगत भीलों के लिए प्रतिदिन स्नान कर स्वच्छ वस्त्र पहनना, सर पर भगवा पगड़ी बाँधना तथा गले में रुद्राक्ष की माला धारण करना अनिवार्य था।

*डॉ. सुशीला शक्तावत, गुरुनानक कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

गोविन्द गिरी की पूजन-पद्धति, हवन, एकेश्वरवाद, सामाजिक कुरीतियाँ, अन्धविश्वासों का विरोध तथा शिक्षा के प्रसार के लिए प्रचार आदि से स्पष्ट हैं कि उन पर दयानन्द का प्रभाव अवश्यम्भावी रूप से पड़ा। गोविन्दगिरी ने 1983 ई. में “सम्प सभा” की स्थापना की तथा भीलों को हिन्दू धर्म के दायरे में रखने के लिए “भगत पन्थ” की स्थापना की।² सम्प शब्द का तात्पर्य वागड़ भाषा में एकजुटता, संयुक्तता, प्रेम तथा बन्धुत्व से हैं। इस सभा का उद्देश्य भीलों में समाज-सुधार तथा जन जागृति फैलाना था।

आगे चलकर यह संगठन काफी विकसित हुआ। गोविन्द गिरी के उपदेश से आदिवासी भीलों में पुनरुत्थान की सम्भावना दिखने लगी। भील अपनी दयनीय स्थिति में सुधार के लिए सामूहिक रूप से विचार-विमर्श करने लगे। विचार-विमर्श का केन्द्र गिरी द्वारा स्थापित धुनियाँ (हवनकुंड) बनी।³

गोविन्द गिरी के अनुयायियों ने अनेक स्थानों पर धुनियाँ स्थापित की। इन धुनियों पर एकत्रित होकर वे आहुति देते, सांस्कृतिक समारोह मनाते तथा अपनी समस्याओं के समाधान के तरीके पर विचार करते। आध्यात्मिक एकता से प्रेरित होकर वे प्रेम तथा भाईचारे का सन्देश दूसरों तक पहुँचाते थे।

इन सम्प सभाओं के माध्यम से गोविन्दगिरी के अनुयायियों ने भीलों में एकता तथा संगठन की भावना का विकास किया। गोविन्दगिरी ने अपनी प्रथम धुली अपने पैतृक गाँव बँसिया में स्थापित किया और आस-पास के भीलों को आध्यात्मिक शिक्षा देना आरम्भ किया।⁴ वर्तमान समय में 1800 के लगभग धुनियाँ सम्बन्धित क्षेत्रों में विद्यमान हैं, जिनमें बेणेश्वर, छोटा अम्बा, जगमेर तथा मानगढ़ की धुनियाँ विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।⁵

धूणी स्थापना के समय गोविन्दगिरी और चार शिष्यों ने जो भजन गाया था वह इस प्रकार है

पाँच पाँच सन्त तो पाँच धूणी रचावो रो जी
दुनिया रो दुःख हटायो रे जी
छाणी उपर मेलो रचावो रें जी
पाँच पाँच धूणिया गुडावी मारा गुरुजी
वचना री बाँदी दुनियाँ तो लूमके आवेजी
मेलो मेलायो रे-मारा सन्तनो रे जी

उन्होंने सामन्तवाद के विशेषाधिकारों के प्रति प्रतिक्रिया और उनमें अन्याय के विरुद्ध अपनी जोरदार आवाज उठाई, विशेषकर भीलों के प्रति सामन्तों द्वारा किए जाने वाले अन्यायों का उल्लेख किया। गोविन्दगिरी के प्रभाव में आकर राजपूताना के दक्षिणी भाग में पहाड़ी इलाकों के भील पूर्णतया संगठित हो गए। उनमें जागरण की लहर आ गई। अब वे राज्य के दमन, शोषण और अत्याचार के मुकाबला करने को

तैयार हो गए। इस समय भीलों के मन में निम्नलिखित कारणों से विद्रोह की प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही थीं। देशी राज्य और जागीरदार भीलों से भारी कर लेते थे। नहीं दे पाने की स्थिति में राज्याधिकारी उनके साथ कठोरता का व्यवहार करते थे। भील क्षेत्र में बेट बेगार की प्रथा सामान्य थी।⁶ गोविन्दगिरी के नेतृत्व में भीलों को अपने आत्मगौरव, स्वाभिमान का ज्ञान होने लगा। अन्याय के विरुद्ध लड़ने की जागृति उत्पन्न हुई। आरम्भ से 'सम्प सभा' को राजाओं एवं जागीरदारों का भी समर्थन प्राप्त था।⁷ किन्तु जब गोविन्दगिरी ने बेट बेगार एवं लगान के विरुद्ध आवाज उठानी आरम्भ की तो वे उनके विरुद्ध हो गए। भीलों की निर्भयता से सिरौही, बाँसवाड़ा, डूंगरपुर तथा मेवाड़ की देशी रियासतें चिन्तित हो उठीं। उन्होंने भीलों की शक्ति को छिन्न-भिन्न करने की काफी कोशिश की किन्तु वे सफल नहीं हो सकें। स्थानीय शासकों ने गिरि के खिलाफ अंग्रेजी सरकार से सहायता प्राप्त करने की कोशिश शुरू कर दी।⁸ उधर गोविन्दगिरी ने भी अपना कार्य जारी रखा। उन्हें भीलों की सहिष्णुता एवं वचन अटलता पर विश्वास था। उन्होंने भीलों के इन गुणों का सार्थक उपयोग करना उचित समझा।

भीलों एवं रियासतों के मध्य तनाव का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण दोषपूर्ण आबकारी नीति बनी। भीलों को महुआ के फूलों से देशी शराब बनाने का अधिकार लम्बे समय से प्राप्त था, किन्तु राज्य ने अब उसे प्रतिबन्धित कर दिया। भीलों में इससे बहुत रोष उत्पन्न हुआ, किन्तु सुधार आन्दोलन के प्रभाव में आकर उन्होंने शराब पीना बन्द कर दिया, जिससे राज्य तथा ठेकेदारों को काफी नुकसान होने लगा।⁹

अप्रैल 1913 ई. में डूंगरपुर राज्य की पुलिस ने उन्हें भीलों को भड़काने के आरोप में गिरफ्तार कर लिया, किन्तु तीन दिन बाद उन्हें छोड़ दिया गया, पर डूंगरपुर राज्य से उन्हें बाहर जाने के लिए कहा गया। वह गुजरात के ईडर राज्य में चले गए।¹⁰ किन्तु वहाँ के शासक ने भी उन्हें वहाँ से हटाने का प्रयत्न किया। ईडर के निकाले जाने पर गोविन्द गिरी अपने अनुयायियों सहित मानगढ़ की पहाड़ी पर चले गए।¹¹

कुछ अंग्रेज अधिकारियों ने गोविन्द गिरी पर यह आरोप लगाया कि गोविन्द गिरी भील राज्य स्थापित करना चाहते थे। उनकी इस धारणा का मुख्य आधार 11 नवम्बर 1914 ई. को रेवाकाँठा के पोलिटिकल एजेंट को गोविन्द गिरी द्वारा भेजा गया सन्देश था।¹² जिससे उन्होंने सन्तरामपुर के राजा से बेट बेगार समाप्त करने तथा भीलों के प्रति हो रहे शोषण एवं अन्याय को समाप्त करने का प्रयास किया। आर. पी. बारो, कमिश्नर उत्तरी डिवीजन ने लिखा था कि वह अपनी माँगों को मनवाकर उस राज्य की शासन-पद्धति में परिवर्तन करना चाहता था। उसने यह चेतावनी भी दी थी कि ऐसा नहीं करने पर गम्भीर परिणाम हो सकते हैं। वह सन्तरामपुर रियासत

के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के लिए तत्पर था।¹³ किन्तु कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि गोविन्द गिरी व उसके अनुयायियों को जिन परेशानियों का सामना करना पड़ा उनसे वे सामन्तवाद तथा उपनिवेशवाद के चंगुल से मुक्त होने के लिए विवश हो गए। किन्तु उन्होंने भील राज्य स्थापित करने की योजना बनाई, इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

गोविन्द गिरी ने अक्टूबर 1913 को भीलों को मानगढ़ में एकत्रित होने के लिए चारो ओर सन्देश भेजे। 30 अक्टूबर, 1913 ई. को पुलिस थानेदार ने दो सिपाहियों को मानगढ़ भेजा ताकि वे मानगढ़ की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त कर सकें। इन सिपाहियों को भीलों ने सशक्त होकर पकड़ लिया। इनमें से एक सिपाही की हत्या कर दी।¹⁴ कुछ भीलों ने सून्थ किले पर असफल आक्रमण किया। इस पर 6 से 10 नवम्बर, 1913 ई. के बीच दो फौजी पलटने¹⁵ भीलों पर आक्रमण करने के लिए मानगढ़ भेजी गई। 1500 के लगभग भील मारे गए। गोविन्द गिरी को गिरफ्तार कर अहमदाबाद के साबरमती जेल में डाल दिया गया। इस प्रकार भीलों का आन्दोलन निर्दयतापूर्वक दबा दिया गया¹⁶ और उन्हें फाँसी की सजा सुनाई गई, जिसे बाद में 20 वर्ष की सजा में परिवर्तित कर दिया गया।¹⁷

*गीत गोविन्द गुरु से
(मानगढ़ हत्याकांड के बारे में)
बहु प्रचलित लोकगीत
रई ने केंवा बोले रे
मानगढ़स माते धूमाल करे
हांसु एक गरु हो सेला
हांसु जुनी धूणी जूनी
हांसु धूणिए पूजा करो
हांसु भूरियु नारेल, मँगावे
हांसु भूरिए ढाई ते मँगावे
हांसु नारेल माही लोई गले
हांसु नारेल लई ने मोकले
हांसु जातरी गीयु ठेठा ठेठ
हांसु जातरी धूणी माँही नारेल दडे
हांसु हिकड़ा आदमी मूआँ
हांसु भानविया गरणां लुटाई गियाँ
हांसु बाबा नाई गियाँ
गीत जाडं मेलों।*

इस गीत में मानगढ़ कांड पर प्रकाश डाला गया है।

बाद में गोविन्द गिरी की लोकप्रियता को देखते हुए उन्हें 10 वर्ष के कठोर कारावास में बदल दिया गया।¹⁸ सन् 1930 में उन्हें सशर्त रिहा कर दिया गया। अक्टूबर 1931 ई. में गुजरात के पंचमहल गाँव में उनकी मृत्यु हो गई।¹⁹

गोविन्द गिरी के नेतृत्व में भीलों का धार्मिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक आन्दोलन चला, जो असफल रहा, किन्तु यह आधुनिक भारत के इतिहास की मुख्य घटना है। इस आन्दोलन ने भीलों में चेतना जागृत कर दी और उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सजग कर दिया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप भीलों एवं समाज के अन्य वर्गों में भी चेतना उत्पन्न हुई। इससे कृषक आन्दोलन एवं राजस्थान में स्वतन्त्रता आन्दोलन को काफी प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार यह आन्दोलन भीलों की मुक्ति का प्रतीक बन गया।

गुरु गोविन्द का भविष्यवाणी गीत²⁰

गोविन्दगिरी दूसरी बार सजा काटकर जब अहमदाबाद सेंट्रल जेल से वापस आए तो ब्रिटिश इलाके दाहोद के पास झालोद में बस गए। वहाँ वे ठक्कर बापा द्वारा स्थापित आदिवासियों को पढ़ाने के आश्रम में रहने लगे व अध्यापन व उपदेश का कार्य करने लगे। उनके द्वारा लिखित इस गीत में गोविन्द गुरु ने स्पष्ट भविष्यवाणी कर दी थी कि मानगढ़ हत्याकांड का बदला अंग्रेजों से अवश्य लिया जाएगा। देश आजाद होगा, दिल्ली राजधानी होगी और चुनी हुई लोकतान्त्रिक सरकार इस देश में स्थापित होगी। गुरु गोविन्द आगे कहता है कि हमें 'पंचायती राज' स्थापित करना होगा। भगत भीलों को भी वह आश्वस्त करता है कि स्वतन्त्र भारत में "मानगढ़ धाम" को पूरी महत्ता प्राप्त होगी एवं बेणेश्वर कम्बोई उनके प्रमुख तीर्थ होंगे। "भविष्यवाणी गीत" निम्नानुसार हैं। यह राष्ट्रीय गीत गुरु गोविन्द ने स्वयं लिखा।

झालोद में मारी कुंडी है, दाहोद में मारी थाली हैं।

भुरेदिया ने मानु रे ने मानु...

गोधरा में मारो दीवो है, अहमदाबाद भारी जाजम हैं।

दिल्ली में मारी कलम है, बेणेश्वर मारो झोपड़ो हैं।

बेणेश्वर मारो सोपड़ो हैं, धूलक ने मारो धमको है।

मानगढ़ कांड के बाद बाँसिया के थानु भगत द्वारा गोविन्द गुरु को सम्बोधित करते हुए एक भजन लिखा गया जो इस प्रकार है²¹

मानगढ़ माते मेलो मालियो हरि-तार ले जो घणी। मुरियुं घणों दुष्ट है हरि-तार ले जो घणी। मानगढ़ माते भगत मलियाँ हरि-ताल ले जो हरि।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सुमनेश जोशी राजस्थान के स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी, राजस्थानी ग्रन्थागार, जयपुर पृ. 2।
2. भगवतीलाल जैन स्वतन्त्रता संग्राम में भगत आन्दोलन का योगदान, बिन्दू प्रिंटर्स, 1982, पृ. 10।
3. फॉरेन, पोलिटीकल इंटरनल "ए" मार्च 1914, पृ. 46-47।
4. फॉरेन, पोलिटीकल इंटरनल अप्रैल 1916, पृ. 36-39।
5. फॉरेन, पोलिटीकल इंटरनल, मार्च 1914, पृ. 8-49, भगवती लाल जैन स्वतन्त्रता संग्राम में भगत आन्दोलन का योगदान, पृ. 65।
6. प्रकाश व्यास राजस्थान का स्वाधीनता संग्राम, पंचशील प्रकाशन, 1985, पृ. 201।
7. वशिष्ठ पी.के. भगत मूवमेंट, पृ. 45-46।
8. पंड्या जे.पी. गोविन्द गुरु, पृ. 40।
9. जहुर खॉं मेहर राजस्थान में स्वतन्त्रता संघर्ष, जगदीश सिंह गहलोत शोध संस्थान, वर्ष 1991
10. श्रीमती मंजु जैन का आलेख राजस्थान में भील आन्दोलन, पृ. 141।
11. डॉ. उम्मेदसिंह इन्दा राजस्थान में स्वाधीनता संघर्ष राज्य शासन एवं राजनीति राजस्थानी ग्रन्थागार, 2005, पृ. 45
12. सम्पादक देव कोठारी स्वतन्त्रता आन्दोलन में मेवाड़ का योगदान, पृ.
13. राजस्थान का स्वतन्त्रता संग्राम एक पहलू सं. पूर्णिमा नवीन लाल, पृ.78 हिन्दी साहित्य मन्दिर 1986, सावन्तराज भंसाली का आलेख।
14. प्रकाश नारायण नाटाणी-राजस्थान का स्वाधीनता आन्दोलन, ग्रन्थ विकास 1998, पृ. 54।
15. बी.एल. पानगड़िया राजस्थान में स्वतन्त्रता संग्राम2, हि. ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1985, पृ.25
16. सुमनेश जोशी वही, पृ.7
17. राजस्थानी भील गीत, भाग-2 साहित्य संस्थान रा.वि. उदयपुर, पृ. 103-109।
18. डॉ. एल.पी. माथुर प्रोटेस्ट मूवमेंट ऑफ भील्स अंडर दि ब्रिटिश राज, पृ.38।
19. डॉ. कान्ति वर्मा राजस्थान क्रान्तिकारी, आलेख पब्लिशर्स 1983 पृ. 8।
20. भगवतीलाल जैन स्वतन्त्रता संग्राम में भगत आन्दोलन का योगदान, पृ.63।
21. वही, पृ. 65, वाग्बर, वर्ष 22, अंक 1-2, पृ. 47।

पाठकीय प्रतिक्रिया

‘चिन्तन-सृजन’ का अक्टूबर-दिसम्बर अंक मिला और परम्परा के अनुसार आपका सम्पादकीय इस बार भी देश की एक बड़ी घटना का मूल्यांकन करने में पूर्णतः सफल हुआ। बिहार के चुनाव का आपका मूल्यांकन एक प्रकार से देश के लोकतंत्र तथा उसके बदलते स्वरूप का ही मूल्यांकन है। इस बार बिहार का चुनाव भारतीय लोकतंत्र के एक नयी दिशा की ओर कदम बढ़ाने का प्रमाण है। आपने सम्पादकीय में चुनाव के आँकड़े दिये हैं तथा पार्टियों की जय-पराजय का विवरण तथा कारण दिये हैं। इनमें कांग्रेस पार्टी तथा लालू प्रसाद यादव, पासवान आदि की पराजय ऐतिहासिक है और इसका प्रमाण भी कि लोकतंत्र में धर्म, जाति, क्षेत्र तथा परिवार बहुत लम्बे समय तक जनता को मूर्ख नहीं बना सकते। बिहार के चुनाव में नीतीश एवं भाजपा की जीत इसका प्रमाण है कि जनता सर्वप्रथम सुशासन एवं विकास चाहती है। धर्म और जाति की मोह-माया कुछ समय तक जनता को भ्रम-जाल में फँसाये रख सकती है, लेकिन वह मुख्यतः सुशासन और विकास चाहती है। बिहार के चुनाव में नीतीश तथा भाजपा के विरुद्ध हर प्रकार का प्रचार किया गया, उन पर मिथ्या आरोप लगाये गये, किन्तु जनता ने वही निर्णय किया जो उसके मन में था। आपने ठीक ही लिखा है कि नीतीश ने कई तत्त्वों की दबंगता का अहंकार तोड़ा, गुण्डों का भय कम किया तथा प्रशासन की जड़ता तोड़ी तथा भ्रष्टाचार के उन्मूलन का विश्वास उत्पन्न किया। यदि आज कोई पार्टी, एवं नेता इतना कार्य कर दे तो उसे जनता अपने दिल से लगाकर रखेगी और उसे ही सिंहासन पर बैठायेगी। बिहार का चुनाव एक उदाहरण है, एक प्रमाण है, एक निष्कर्ष है तथा चेतावनी है उन सभी सरकारों एवं पार्टियों के लिए जो छद्म धर्मनिरपेक्षता, तुष्टीकरण, भ्रष्टाचार तथा राष्ट्र-विरोधी नीतियों के द्वारा देश पर शासन कर रही हैं। आपने सम्पादकीय में केन्द्र की सरकार की ऐसी ही नीतियों की ओर भी इशारा किया है जो देश के 65,223 अरब रुपयों को स्वीट्जरलैण्ड की बैंकों से भारत लाने में कोई रूचि नहीं रखती और राष्ट्रीय संशोधनों को लूटने में लगी है। अब तो रोज ही नये-नये स्कैण्डल सामने आ रहे हैं और कांग्रेस पार्टी के

अनेक नेता इस जाल में फँसे हैं। लोकतंत्र के समुचित विकास के लिए भ्रष्टाचार का पूर्णतः समाप्त होना आवश्यक है। भ्रष्टाचार न्याय, नैतिकता, समानता और विकास को नष्टभ्रष्ट करता है और लोकतंत्र के मूल भाव खा जाता है। आपका सम्पादकीय लोकतंत्र की रक्षा का ही संकल्प और मंत्र देता है। बिहार का चुनाव देश की जनता को जाग्रत कर सके तो वह लोकतंत्र का एक प्रकाश-स्तम्भ बन सकता है।

इस अंक में पवन कुमार गुप्त, कैलाशचन्द्र पन्त, श्री भगवान सिंह, पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’, पुष्पपाल सिंह, शंकर शरण आदि के लेख पठनीय और विचारोत्तेजक हैं। धर्मपाल जी का योगदान महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने धर्म, संस्कृति, इतिहास आदि में भारतीय दृष्टि की स्थापना की। श्रीभगवान सिंह तथा पुष्पपाल सिंह ने इसी भारतीय दृष्टि से अपने-अपने विषयों का मूल्यांकन किया है। आज समाज पर पश्चिम का जैसा दबाव है तथा जैसा पश्चिमीकरण हो रहा है, उससे हमें टकराना ही होगा और इसके लिए हमारी भारतीय दृष्टि ही सर्वाधिक उपयोगी होगी। ‘चिन्तन-सृजन’ अपने जन्म से यही कार्य कर रहा है और विश्वास है, भविष्य में भी करता रहेगा। भारत के रहने वाले यदि अपने देश को, अपनी समस्याओं को तथा अपने विकास को भारतीय दृष्टि से नहीं देखेंगे तो किस दृष्टि से देखेंगे। यदि इसमें कोई अन्ध-राष्ट्रवाद देखे तो वह बताये कि ऐसा कौन-सा देश है जो विदेशी दृष्टि से स्वयं को देखता है और संचालित होता है?

- डॉ. कमल किशोर गोयनका, ए-98,
अशोक विहार, फेज प्रथम, नयी दिल्ली-110052.

सदैव की भाँति रोचकता एवं चिन्तनमय आलेखों सहित चिन्तन-सृजन का अक्टूबर-दिसम्बर 2010 का अंक प्राप्त हुआ। सभी लेख रूचिकर लगे पर ‘एक महती संस्कृति का धनी भारत’ मुझे विशेष प्रिय लगा। इस विज्ञान ज्ञान सम्मत आलेख हेतु श्री ब्रजलाल उनियाल को साधुवाद।

- डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय, पूर्व प्रो. कैंसर शोध,
अजाराबदेगान विश्वविद्यालय, तबरीज, ईरान;
‘विज्ञान’ परिसर कोठी काके बाबू,
देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224001.

‘चिन्तन-सृजन’ का अक्टूबर-दिसम्बर 2010 का अंक। धन्यवाद। यह पत्रिका मुझे नियमित मिल रही है। इसके माध्यम से आप साहित्य, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्त्व की जो सेवा कर रहे हैं वह प्रशंस्य है। बिहार के चुनाव पर आपका सम्पादकीय। यह

चुनाव वास्तव में इस बार एक नई घटना है। धर्मपाल जी पर लेख महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार भारतीय साहित्य की परम्परा, भारतीय संदर्भों में स्त्रीवाद - ये लेख अंक में महत्वपूर्ण बन पड़े हैं। और भी सभी रचनायें पठनीय हैं। मेरा साधुवाद स्वीकारें।

- डॉ. रामप्रसाद दाधीच, प्रधान संपादक, 'सृजन भारती',
नैवेद्य, 93 नेहरू पार्क, जोधपुर (राजस्थान)।

'चिन्तन-सृजन' का अक्टूबर-दिसम्बर 2010 का अंक पढ़ने को मिला, मात्र 20 रु. 128 पेजों में 11 शोध आलेख पढ़कर बहुत प्रसन्नता हुई। सभी आलेख बढ़िया लगे, किन्तु मुझे सबसे अच्छा ज्ञानवर्द्धक आलेख 'एक महती संस्कृति का धनी भारत' लगा। लेखक ब्रजलाल उनीयाल जी को मेरी बधाई। कुशल संपादन हेतु संपादक जी श्री बी.बी. कुमार एवं सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति को बहुत-बहुत धन्यवाद एवं बधाई। आस्था भारती प्रकाशन को सुन्दर शोधपूर्ण आलेखों से सजी पत्रिका प्रकाशित करने हेतु साधुवाद। कृपया पत्रिका में गद्य काव्य एवं कविताओं- गज़लों की भी जगह दीजिए।

- राजीव नामदेव "राना लिधौरी"

संपादक : 'आकांक्षा' पत्रिका, अध्यक्ष-मध्य प्रदेश
लेखक संघ जिला इकाई टीकमगढ़, नई चर्च के पीछे,
शिव नगर कालोनी, टीकमगढ़-472001(म.प्र.)

'चिन्तन-सृजन' पत्रिका मिल रही है। धन्यवाद। हिन्दी में बौद्धिक साहित्य के सृजन की प्रेरक यह पत्रिका निश्चय ही एक उत्कृष्ट पत्रिका है। कुशल सम्पादन के लिए बधाई।

- डॉ. परमानन्द पांचाल,

महामन्त्री, नागरी लिपि परिषद्, नई दिल्ली
एवं सदस्य, केन्द्रीय हिन्दी समिति (भारत सरकार)।

आपकी चिन्तन-सृजन त्रैमासिक पत्रिका अक्टूबर-दिसम्बर मिली। पत्रिका में उच्चकोटि की पठनीय सामग्री देख मन अभिभूत हो उठा। आज के भौतिक युग में जहाँ मूल्यों का क्षरण पग-पग पर दिखाई दे रहा है तथा पत्रकारिता जगत भी इससे अछूता नहीं है ऐसी पत्रिका देख मन का हर्षित व गदगद होना स्वाभाविक है। पत्रिका के सभी लेख पठनीय हैं किन्तु आज की हमारी परिस्थितियों के संदर्भ में लेख धर्मपाल जी का काम, हिन्द स्वराज की प्रासंगिकता, भूमण्डलीय और भारतीय संदर्भों में स्त्रीवाद एवं महती संस्कृति का धनी भारत विशेष रूप से पठन व मनन करने योग्य हैं। महती

संस्कृति का धनी भारत में भारतीय संस्कृति के गौरवशाली इतिहास के सभी आयामों का विस्तृत वर्णन तो लेखक के विपुल ज्ञान भंडार का परिचायक है। ऐसे ज्ञानवर्द्धक कलेवर के लिए पत्रिका चिन्तन-सृजन साधुवाद की पात्र है। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है, इस प्रकार की लेखन सामग्री से यह पत्रिका भविष्य में भी हमें लाभान्वित करती रहेगी।

- श्रीमती शान्ति बापना, अध्यक्षा,

सुरजीत बालिका माध्यमिक विद्यालय, भरतपुर-321001.

मैंने अपना प्रकाशित आलेख पढ़ा। उसमें प्रूफ की कुछ ऐसी अशुद्धियाँ हैं, जो मूल आलेख में नहीं थीं और आपके यहाँ मुद्रण में ऐसी त्रुटियाँ संभावित नहीं होतीं। कई स्थलों पर वाक्य में यदि कर्ता पुलिग है, तो उसकी क्रिया स्त्रीलिंग कर दी गयी है। कर्ता-क्रिया का ऐसा लिंग विपर्यय प्रायः प्रूफ की त्रुटि में नहीं आता। ऐसा लगता है, जैसे प्रूफ-रीडर ने जानबूझ कर संशोधन के नाम पर ऐसा विरूपण किया हो। आपकी पत्रिका का जो गंभीर, विचारोत्तेजक और महत्वपूर्ण स्तर है, उसको देखते हुए ऐसी विसंगति से पत्रिका को बचाने का प्रयास करेंगे।

- प्रो. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु',

साँईकृपा, 58, लाल एवेन्यू,

पो.ओ. रायन एण्ड सिल्क मील्ल्स, अमृतसर-143005.

हरिद्वार में आप से हुई मुलाकात के क्षण मनःपटल पर अंकित हैं। इस बीच आप की दो पत्रिकाएँ 'डायलाग' और 'चिन्तन-सृजन' हस्तगत हुईं। महिला समस्या और सशक्तिकरण से सम्बन्धित लेख-विचार एक साथ मनन हेतु उपलब्ध कराया है आप ने 'डायलाग' के जनवरी-मार्च 10 अंक में। बधाई हो।

'चिन्तन-सृजन' में भी मीडिया, समाचार पत्र केन्द्रित विचारणीय आलेख पठनीय हैं और मीडिया के विद्यार्थियों के लिए मार्गदर्शक हैं। मीडिया कर्मियों के लिए आत्माघारित सिद्धान्त की बात करके इस अंक के लेख हर जागरुक नागरिक को चिन्तन-मनन करने के लिए उकसाते हैं।

इन दोनों पत्रिकाओं के लिए आप को बहुत-बहुत धन्यवाद।

- जिया लाल आर्य, आई.ए.एस

(सेवा निवृत्त), आर्य निवास, 23,

आई.ए.एस कॉलोनी, किदवईपुरी, पटना-1.

वैसे पत्रिका में प्रतिक्रिया लिखने से मैं परहेज करता हूँ पर आपकी पत्रिका मेरी चेतना को इतना झंकृत कर देती है कि मैं लिखे बिना नहीं रहता। बिहार के गत चुनाव पर

आपका संपादकीय बिहार की राजनीति की अंतरंग पहचान बनाने में सफल है। लोग काम देखते हैं, परिणाम देखते हैं। नीतीश ने बिहार को जाति-पाँति, वर्ग, अगड़ा-पिछड़ा के भेद से ऊपर उठाकर विकास की मुख्यधारा से जोड़ा। महिलाओं, पिछड़ों की सर्जनात्मक भूमिका का स्वागत किया, उन्हें प्रोत्साहन मिला। यह उनकी जीत के कारण रहे। आपका सोचना सही है कि जिस प्रकार बिहार में एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया, उसी प्रकार यदि “भारत की जनता अब्यवस्था, राष्ट्रीय संसाधनों की अनवरत लूट, राजनीतिकों की सिद्धान्तहीन, बेशर्म, संवेदनहीन, स्वार्थ-परकता के विरुद्ध राष्ट्रीय स्तर पर पहल’ करे तो देश का भाग्य बदल सकता है।

‘बिहार की दशा और विकास की दिशा’ में बताया गया है कि बिहार के विकास कार्य की अवरुद्धता के कारण हैं - स्थापन खर्च में बिहार के कोष का 98 प्रतिशत चला जाना; निर्धारित राशि का अधिकांश धन ‘डेलिवरी मैकनिज्म’ पर खर्च हो जाता है। विकासजन्य लाभ का समान वितरण (जन-जागरुकता की कमी, निचले तबके की अक्षमता के कारण) नहीं हो पाता।

इन दिनों उत्तर आधुनिकता, विसंरचनावाद, भूमंडलीकरण, बाजारवाद आदि शब्दों का खूब उपयोग होता है। डॉ. शीतांशु ने देरिदा के कमबवदेजतनबजपवद विसंरचनावाद पर विचार किया है तो उसे ‘पाठ और पाठक के बीच गतिशील सर्जनात्मक आलोचना’ कहा है। साइमन क्रिश्ले का विचार है कि विसंरचनात्मक पाठ-प्रक्रिया इस पर निर्भर करती है कि कितनी विश्वसनीयता के साथ वह किसी पाठ के प्रभुत्वपरक निर्वचन की एक टिप्पणी के बतौर पुनर्सर्जना करती है। ‘पूस की रात’ पर नामवर सिंह की टिप्पणी थी कि वहाँ व्याप्त ठंड जमींदारी व्यवस्था की ठंड है (बहुवचन) जबकि इसके विपरीत हल्कू के जीवनमें अर्थाभाव की ठंड जमींदारी व्यवस्था की ऊष्मा उसकी गर्माहट का दुष्परिणाम है।

‘साहित्य की भारतीय परंपरा, में डॉ. भगवान सिंह का मानना है कि “यूरोप के उपनिवेशवादी लेखकों के साथ-साथ मार्क्सवादी लेखकों ने भी इतिहास एवं साहित्य लेखन के क्षेत्र में अपने विचारों का जो जाल रचा उसे ही आधुनिक, वैज्ञानिक, और विश्वस्तरीय मानकर हमारे अधिकांश आधुनिकता पसंद भारतीय लेखक उलझते गये और अब भी उलझते जा रहे हैं।” भूमंडल में स्त्री की स्थिति, दुर्गति, उपलब्धि और लोगों के नजरिए पर डॉ. पुष्पपाल सिंह का लेख शोधोपजीव्य है। सभी रचनाएँ आश्वस्तकारी हैं। संपादक, लेखक बधाई के पात्र हैं।

- प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, पी.एच.डी., डी.लिट.,
प्रोफेसर एवं पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष विनोवा भावे विश्वविद्यालय,
हजारीबाग, संपर्क : 9/21, वृन्दावन, मनोरमा नगर,
एल.सी. रोड, धनवाद-826001 (झारखंड)

शेष पृष्ठ 113 पर

आस्था भारती समाचार

आस्था भारती द्वारा दिसम्बर 8, 2010 को नई दिल्ली के इण्डिया इन्टरनेशनल सेन्टर में एक कार्यशाला आयोजित की गयी जिसका विषय था: “पूर्वोत्तर भारत में प्रशासन एवं सामाजिक पुनर्निर्माण में नागरिक समाज की भूमिका”। गुवाहाटी में भी इसी विषय पर 3 एवं 4 सितम्बर 2010 को कार्यशाला हुई थी।

दिल्ली में आयोजित कार्यशाला में 15 लोगों ने भाग लिया जिसकी अध्यक्षता - आस्था भारती के अध्यक्ष जयन्त माधव ने की। भाग लेने वालों में प्रमुख थे श्री पी. डी. राय, सांसद (सिक्किम), प्रत्यूष सिन्हा, भूतपूर्व प्रमुख, सतर्कता आयोग, तथा अन्य क्षेत्र विशेषज्ञ एवं नागरिक समाज के प्रमुख व्यक्ति।

चर्चा में आम सहमति थी की सर्वव्यापी भ्रष्टाचार ही देश में कुशासन का मुख्य कारण है और यह व्याधि केवल पूर्वोत्तर भारत तक ही सीमित नहीं है। ऐसा मत था कि भ्रष्टाचार निवारण तथा प्रशासन सुधारमें नागरिक समाज की अहम भूमिका होनी चाहिए। चर्चा के दौरान निम्नलिखित मुख्य सुझाव आए :

- (1) भारत में नागरिक समाज की अभी तक सशक्त पहचान नहीं बन पायी है। इस कारण संगठित होने, ठोस कार्यक्रम तथा लक्ष्य निर्धारित करने की आवश्यकता है।
- (2) नागरिक समाज को राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्तर पर आन्तरिक संबंधों को बढ़ाना चाहिए।
- (3) नागरिक समाज को गरीबों तथा हासिये पर के लोगों की अन्तरात्मा की आवाज को उभारना होगा और उनकी लड़ाई लड़नी पड़ेगी। उन्हें प्रशासन की निष्क्रियता से हतोत्साहित नहीं होना चाहिए।
- (4) यह महसूस किया गया कि केवल वैधानिक एवं प्रणालीगत कदम सक्षम नहीं होंगे। समाज में, विशेषता युवावर्ग में, पारम्परिक आदर्शों को जागृत करना पड़ेगा।
- (5) प्रशासन एवं राज्यतंत्र पर सुधार के लिए लगातार दबाव बनाए रखना आवश्यक है। इसके लिए याचिकाओं, प्रतिनिधि-मण्डलों, प्रदर्शनों, RTI के व्यापक उपयोग तथा कानूनी कारवाई आदि का सहारा लेना

चाहिए, ताकि भ्रष्टाचार एवं कुशासन की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जा सके।

- (6) इस दिशा में ठोस एवं प्रत्यक्ष कदम अधिक कारगर साबित होंगे।
- (7) कार्यशाला के विचारों एवं संस्तुतियों को प्रशासन को भेजा जाए तथा देश के बौद्धिक एवं शैक्षिक संस्थानों में विस्तृत रूप से वितरित किया जाय।



(बाएँ से दाएँ) विमल प्रमाणिक, कोलकाता; वी.बी. कुमार, टोकी ब्लाह, शिलौंग; टी.एन. मैन्नन, कोहिमा; ए. एस. आर्थर, इम्फाल; जे.एन.राय, पी.सी. हालदार, उल्फा के साथ हो रही शान्ति-वार्ता में भारत सरकार के वार्ताकार; पैट्रीसिया मुखिम, शिलौंग; प्रत्युष सिन्हा, आर.एस. पाण्डेय, नागा-शान्ति-वार्ता के लिए भारत सरकार के वार्ताकार; जयन्त माधव, प्रकाश सिंह, सुनील कौल, कोक्राझार, आसाम; गुलशन सचदेवा।

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office

LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office

1/3575, Netaji Subhash Marg,
Darya Ganj, New Delhi-110002
Phone Off. 3277883, 3711848